श्री गुरु-देव के चरणों में

अर्थात्

साधन-चतुष्टय

आत्म-सुधार तथा आत्मोन्नति का सर्वोच्च साधन

मूल लेखक—

ऐल्कियोनि अर्थात् श्री जे० कृष्णमूर्त्ति ।

अनुवादक—

जगत नारायण ।

अनुवादक द्वारा अन्य पुस्तकें

१. धर्म-ज्योति, दूसरा संस्करण ... ३)
२. परलोक की कहानियाँ (कम किया हुआ मूल्य) १॥)
३. परलोक-जीवन ... ... ≡)
४. इस्लाम धर्म की ख़ूबियाँ ... ... =)॥
५. सुख की अचूक कुञ्जी ... ... ॥)
६. चरित्र-गठन ... ... =)॥
७. सत्संगति ... ... =)
८. बड़ों के प्रति बच्चों का सन्देश ... ... -)

तीन मालाएँ

इनके अलावे अनुवादक द्वारा तीन मालाएँ भी प्रकाशित होती हैं : (१) बाल-विकास-माला (२) राष्ट्र-विकास-माला तथा (३) जीवन-विकास-माला । इनका विवरण कवर पेज ३ और ४ पर देखें ।

व्यवस्थापक, नारायण-प्रकाशन-मन्दिर,
थियोसॉफ़िकल सोसायटी, बनारस—१ ।

❀ ॐ ❀

श्री गुरु-देव के चरणों में

अर्थात्

साधन-चतुष्टय

आत्म-सुधार तथा आत्मोन्नति का सर्वोच्च साधन

"ऐट द फ़ीट ऑफ़ द मास्टर"

("At the Feet of the Master")

का हिन्दी भावानुवाद।

मूल लेखक—

ऐल्कियोनी अर्थात् श्री जे० कृष्णमूर्त्ति।

अनुवादक—

जगत नारायण, एफ़्० टी० एस्।

समर्पण

जो लोग
महान् मन्दिर के द्वार पर खड़े
भीतर प्रवेश करने का बाट जोह रहे हैं,
उनकी सेवा में
समर्पित !
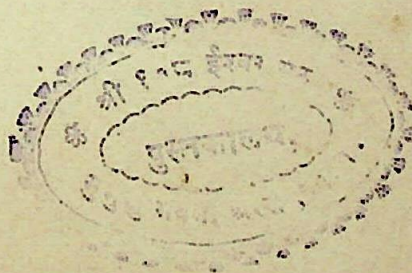
प्रार्थना

असतो मा सद्गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतङ्गमय

असत् से मुझे सत् ओर ले चलें।

अन्धकार से मुझे ज्योति की ओर ले चलें।

मृत्यु से मुझे अमरत्व की ओर ले चलें।

विषय-सूची

———

अनुवादक द्वारा भूमिका

इस पुस्तिका में साधन-चतुष्टय का वर्णन किया गया है—वही साधन-चतुष्टय, जिसका प्रचार प्राचीन काल में जगद्गुरु शङ्कराचार्य ने किया था। किन्तु, साधारण तौर से हमारे यहाँ लोग इसे इस भाव से नहीं लेते हैं। इस बार इसका प्रचार संसार में मूल रूप में अँग्रेजी भाषा द्वारा किया गया है। इस कारण बहुत-से लोग इसे कोई विदेशी वस्तु समझ कर इसकी ओर यथेष्ट ध्यान नहीं देते। परन्तु इसका असली तात्पर्य दर्शाने के लिये तथा हमारे यहाँ जन-साधारण का ध्यान इसकी ओर यथेष्ट रूप से आकर्षित कराने के लिये यह आवश्यक है कि इस तथ्य को स्पष्ट रूप से पाठक-गण के सामने रख दिया जाय। फिर वे इसे विदेशी वस्तु न समझ कर अपनी निजी वस्तु समझने लग जायेंगे, तथा इसे यथेष्ट आदर के साथ अपना कर इस अमूल्य रत्न से यथेष्ट लाभ भी उठाने का प्रयत्न करेंगे। प्रस्तुत अनुवाद के प्रकाशित करने का एक प्रधान कारण यही है।

एक दूसरा कारण इसके प्रकाशित करने का यह है कि यहाँ एक-एक शब्द का अनुवाद न कर के यथा-साध्य मूल शब्दों के भीतर छिपे भावों के प्रदर्शन की कोशिश की गयी है। इसमें कहाँ तक सफलता हुई है, इसका निर्णय पाठक-गण ही कर सकेंगे।

जिस अँग्रेजी पुस्तिका का अनुवाद इसमें दिया गया है उसका नाम—"ऐट द फ़ीट ऑफ़ द मास्टर" ("At the Feet of the Master") है। अँग्रेजी भाषा-भाषी जनता के

लिये यह एक नयी-सी वस्तु है और उपरोक्त नाम से उनके हृदयों में प्रायः कुछ गहरे भाव उत्पन्न हुआ करते हैं। यह नाम वास्तव में बहुत सार्थक है। लेकिन हिन्दी संसार के लिये इसका अनुवाद "श्री गुरु-देव-चरणेषु" अथवा "श्री गुरु-चरणों में" करने से यहाँ पाठक के हृदय में जो भाव जाग्रत होना चाहिये वह प्रायः नहीं हो पाता। यों तो ज्ञान की ज्योति जहाँ कहीं से प्राप्त हो उसे अपनाना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। लेकिन अभी जो साधारण त्रुटियाँ अथवा सङ्कीर्णताएँ हमारे अन्दर मौजूद हैं उनके कारण इसमें बाधाएँ आ जाया करती हैं। फिर, मनो-विज्ञान का यह एक साधारण नियम है कि ज्ञात वस्तु के आधार पर अज्ञात वस्तु की ओर ले जाना अथवा बढ़ना चाहिये। इसलिये इस पुस्तिका का शीर्षक अभी "श्री गुरु-देव के चरणों में अर्थात् साधन-चतुष्टय" दिया जा रहा है। इस प्रकार पाठकों को प्रस्तुत साधन के वर्त्तमान रूप के साथ-साथ इसके प्राचीन रूप की भी कुछ याद दिलाने की कोशिश की गयी है।

हाँ, इससे यह भी नहीं समझना चाहिये कि मानो इस मूल पुस्तिका में केवल जगद्गुरु शङ्कराचार्य द्वारा प्रचारित कुछ पदों का ही अनुवाद कर दिया गया हो। ऐसी बात नहीं है। बात यह है कि साधन-चतुष्टय में जिन साधनों का वर्णन है वे प्राकृतिक नियमों के आधार पर अवलम्बित हैं। आध्यात्मिक पथ पर जब कभी जो कोई चलना चाहे उसे उन नियमों का पालन करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। फिर, जो कोई भी अपने को योग्य अधिकारी बनाये, वह प्रकृति के रहस्यों को जान सकता है। अतः अधिकारी पुरुष के लिये अनुवाद की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह तो स्वतन्त्र रूप से सत्य का यथार्थ स्वरूप स्पष्टतः स्वतः देख सकता है।

अस्तु, इस अँग्रेजी पुस्तिका में साधन तो वही प्राचीन है। लेकिन उसे ऐसी सरल भाषा में दिया गया है जिसे आज-कल के आदमी सुगमता से समझ सकते हैं। फिर, इसके संसार-व्यापी प्रचार के ख्याल से ही इसे इस बार अँग्रेजी भाषा में दिया गया है। इसमें यह बात स्पष्ट रूप से प्रगट कर दिया गया है कि इन साधनों के साधक का व्यावहारिक जीवन कैसा होना चाहिये; अर्थात्, किस प्रकार इन साधनों को अपने जीवन द्वारा प्रगट करना चाहिये। आध्यात्मिक पथ की ओर चलने वाले जिज्ञासुओं के लिये यह छोटी पुस्तिका वास्तव में दिव्य-ज्योति का काम करती है।

इस पुस्तिका के ऊपर एक वृहत् टिप्पणी भी अँग्रेजी में प्रकाशित हो चुकी है। कुछ वर्ष हुए मैंने उसके अनुवाद की भी कोशिश की थी। पर वह काम अभी बिल्कुल अधूरा ही पड़ा हुआ है।

फिर, प्राचीन पुस्तकों में साधन-चतुष्टय सम्बन्धी जो ज्ञान उपलब्ध है, उसे उसके वर्त्तमान रूप के साथ मिला कर समझने-समझाने का एक दूसरा आवश्यक काम भी अधूरा ही पड़ा हुआ है। समय पाकर इन लक्ष्यों की पूर्ति का प्रयत्न किया जायगा।

इस पुस्तिका के लिखने में राय बहादुर पंड्या बैजनाथ-जी के अनुवाद से भी जहाँ-तहाँ कुछ सहायता ली गयी है। इसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

थियोसॉफिकल सोसायटी,
काशीजी।

जगत नारायण,
१४-१२-४६।
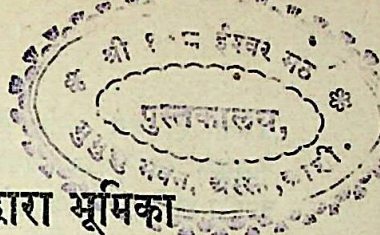
डा० एनी बेसेन्ट द्वारा भूमिका

अवस्था में कुछ बड़ी होने के कारण इस छोटी-सी पुस्तिका की भूमिका के रूप में दो शब्द लिखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। यह पुस्तिका मेरे एक छोटे भाई की लिखी हुई है। वे शरीर के लेहाज से तो अवस्था में जरूर छोटे हैं, किन्तु जीव अथवा जीवात्मा की अवस्था के लेहाज से छोटे नहीं। जब इनके गुरु-देव इन्हें दीक्षा प्राप्त करने के लिये तैयार कर रहे थे, तो उस समय उन्होंने जो शिक्षाएँ इन्हें दीं, वे ही इस पुस्तिका में दी गयी हैं। जिस सुगमता से ये अब अँग्रेजी लिख-पढ़ लेते हैं, वैसे गत वर्ष (अर्थात् १९०९ ई० में) नहीं लिख-पढ़ सकते थे। इसलिये उन उपदेशों को इन्होंने अपनी स्मृति से धीरे-धीरे काफी परिश्रम उठा कर लिख लिया था। इनके अधिकांश भाग में तो गुरु-देव के ही शब्द ज्यों के त्यों दिये गये हैं। जहाँ ऐसा नहीं हो सका है वहाँ गुरु-देव के विचारों को उनके शिष्य ने अपनी भाषा में प्रगट किया है। दो वाक्य जो छूट गये थे, उन्हें पीछे गुरु-देव ने पूरा कर दिया। दो अन्य स्थानों पर एक-एक छूटा हुआ शब्द गुरु-देव ने जोड़ दिया। इसके सिवाय, यह बिल्कुल ऐल्कियोनी अर्थात् मि० कृष्णमूर्त्ति की ही कीर्ति है। यह संसार के प्रति इनका पहला उपहार है। जैसे गुरु-देव के मुखारविन्द से निकले हुए इन उपदेशों द्वारा इन्हें सहायता मिली, वैसे ही अन्य लोगों को भी इनसे सहायता प्राप्त हो!—इसी आशा से ये इन्हें संसार के सामने उपस्थित कर रहे हैं। किन्तु इन उपदेशों से लाभ तभी हो

सकता है, जब इनके अनुकूल आचरण किया जाय, इनके अनुकूल रहा जाय अर्थात् जीवन बनाया जाय। जब से ये उपदेश इनके कानों में पड़े, तब से इन्होंने इन्हीं के अनुकूल चलना आरम्भ कर दिया। अतः यदि उपदेश के साथ-साथ उदाहरण का भी अनुकरण किया जाय, तो जिस प्रकार लेखक के लिये महान् मन्दिर का द्वार खुल गया और उनके पाँव पवित्र पथ पर आरूढ़ हो गये, उसी प्रकार पाठकों के लिये भी वह द्वार अवश्य खुल जायेगा और उनके पाँव भी पवित्र-पथ पर आरूढ़ हो जायेंगे।

एनी बेसेन्ट।

दिसम्बर, १९१०।

लेखक द्वारा प्रस्तावना

ये मेरे शब्द नहीं हैं। ये मेरे गुरु-देव के शब्द हैं, जिन्होंने मुझे उपदेश दिया। उनकी सहायता के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता था। किन्तु उनकी सहायता से मैं पवित्र-पथ पर पाँव रखने में समर्थ हो सका हूँ। आप भी उसी पथ पर प्रवेश करने की अभिलाषा रखते हैं। इसलिये उनके मुखारविन्द से जो शब्द निकले थे, यदि आप उनके अनुकूल चलेंगे, तो उनसे आपको भी सहायता अवश्य प्राप्त होगी। उनके सम्बन्ध में यह कहना काफ़ी नहीं है कि ये उपदेश तो बड़े ही सत्य तथा सुन्दर हैं। जो मनुष्य सफलता प्राप्त करना चाहे, उसे जैसा यहाँ कहा गया है ठीक वैसा ही करना चाहिये। यदि किसी के सामने भोजन परोस कर रखा हुआ हो और वह उसे देख कर कहे कि 'भोजन तो बड़ा अच्छा है!', तो क्या इससे उसकी भूख जायगी? भूख तो तभी जायगी जब वह हाथ बढ़ायेगा और भोजन करेगा। इसी प्रकार, गुरु-देव के शब्दों को केवल कान से सुन लेना ही काफ़ी नहीं है। जैसा गुरु-देव कहते हैं, ठीक वैसा ही आपको करना चाहिये। उनके एक-एक इशारे को ग्रहण करने की ताक में आपको लगे रहना चाहिये। अगर कोई इशारा ग्रहण न किया जा सका, अगर कोई शब्द छूट गया, तो वह सदा के लिये जाता रहा; क्योंकि गुरु-देव एक ही बात को दो बार नहीं कहते।

साधन-चतुष्टय

इस पवित्र-पथ के लिये चार साधन आवश्यक हैं ;—

नं०	वर्त्तमान नाम	प्राचीन नाम
(१)	विवेक	विवेक
(२)	वासना-त्याग	वैराग्य
(३)	सदाचार	षट्-सम्पत्ति
(४)	प्रेम	मुमुक्षुत्व

जो कुछ गुरुदेव ने इनमें से प्रत्येक के बारे में मुझे बताया है, उसे मैं आप लोगों को बताने की कोशिश करूँगा।

———

[नोट —मूल पुस्तक में प्राचीन नाम नहीं दिये गये हैं, वर्त्तमान नाम ही दिये गये हैं। किन्तु, यथेष्ट जानकारी के ख़्याल से यहाँ वर्त्तमान तथा प्राचीन दोनों नाम दिये गये हैं।—अनुवादक।]

पहला साधन

विवेक

इन साधनों में से पहला विवेक है। साधारण तौर पर इससे अभिप्राय सत् और असत् अर्थात् नित्य और अनित्य के भेद की पहचान समझा जाता है, जिसे ठीक से समझ लेने पर मनुष्य पवित्र-पथ पर प्रवेश करने योग्य बन जाता है। विवेक से यह अभिप्राय तो है ही; पर इसके अलावे इसके और भी बहुत कुछ तात्पर्य हैं। फिर, पवित्र-पथ के आरम्भ में ही इसके अभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती; बल्कि आरम्भ से लेकर अन्त तक पद-पद पर नित्य-प्रति इसके अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। आपने यह अच्छी तरह समझ लिया है कि जीवन में जो वास्तव में सबसे अधिक महत्त्व की वस्तुएँ प्राप्त करने की हैं वे केवल इसी पथ पर प्राप्त की जा सकती हैं। इसी लिये तो आप इस पथ पर प्रवेश करते हैं। जिन लोगों को यह ज्ञान प्राप्त नहीं है, वे धन एवं ऐश्वर्य प्राप्त करने के हेतु परिश्रम करते हैं। किन्तु, ये वस्तुएँ अधिक से अधिक केवल एक ही जन्म के लिये तो होती हैं। इसलिये ये अनित्य ठहरीं। इनसे कहीं अधिक महत्त्व की अन्य वस्तुएँ भी हैं, जो सत्य एवं नित्य हैं। जब एक बार भी आप इन्हें देख लेंगे, तो फिर उन सारी दूसरी वस्तुओं की ओर से आपकी चाह एकदम हट जायगी।

समस्त संसार में केवल दो ही श्रेणी के मनुष्य हैं—एक वे जो जानते हैं अर्थात् जिन्हें ज्ञान प्राप्त है और दूसरे

वे जो नहीं जानते अर्थात् जिन्हें ज्ञान प्राप्त नहीं है। यह ज्ञान ही वास्तव में काम की चीज है। कौन किस धर्म का है, किसकी क्या जाति है—ये बातें महत्त्व की नहीं हैं। असल महत्त्व की बात यह ज्ञान है—अर्थात्, इस बात का ज्ञान कि ईश्वर ने मनुष्य के लिये क्या विधान रचा है। क्योंकि ईश्वर का एक विधान है, जिसे विकास-क्रम का विधान कहते हैं। जब एक बार मनुष्य उसको देख लेता है और वास्तव में उसे जान लेता है, तो वह ऐसी प्रतिभाशाली, इतनी सुन्दर, वस्तु है कि उसके बाद उसके लिये कार्य किये बिना तथा उसके साथ अपने को एक बनाये बिना वह कदापि रह नहीं सकता। वह जानता है अर्थात् उसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त रहता है, इसलिये वह ईश्वर के पक्ष में रहता है। अब स्वार्थ के लिये वह कोई कार्य नहीं करता। बल्कि जो कुछ वह करता है केवल विकास के हेतु करता है। बुराई का सामना करना और भलाई का पक्ष लेना—अब से यही उसका प्रधान कार्य रहता है।

यदि वह ईश्वर के पक्ष में है, तो वह हम लोगों का आदमी है। वह हममें से एक है। फिर, इससे कुछ भी मतलब नहीं कि वह अपने को हिन्दू कहता है अथवा मुसलमान, बौद्ध कहता है अथवा ईसाई। न इससे कुछ मतलब रहता है कि वह हिन्दुस्तानी है अथवा अँग्रेज, चीनी है अथवा रूसी। जो लोग ईश्वर के पक्ष में हैं, उन्हें मालूम है कि हम इस दुनिया में किस लिये आये हैं तथा यहाँ हमें क्या करना है, और उसी कार्य की पूर्त्ति में वे लगे रहते हैं। अन्य सभी लोगों को अभी इसका कुछ पता नहीं कि हमें क्या करना चाहिये और इसलिये वे अक्सर बेवकूफ़ी के काम कर देते हैं। वे अपने लिये मनमाने नये-नये रास्ते चलाते हैं और समझते हैं कि इन रास्तों पर चलने से हमें सुख प्राप्त होगा।

परन्तु उन्हें यह समझ में नहीं आता कि सभी अर्थात् प्राणि-मात्र एक हैं; और इसलिये जो "एक" अर्थात् परमात्मा की इच्छा होगी, वही वास्तव में हर किसी के लिये सुखकर हो सकती है। ऐसे मनुष्य सत् के बदले असत् के पीछे पड़े रहते हैं। जब-तक इन दोनों के बीच का भेद वे न समझ लेंगे, तब-तक वे ईश्वर के पक्ष में नहीं आ सकेंगे। इसलिये इस पथ की ओर बढ़ने के लिये विवेक पहला क़दम या पाँव है।

असत् को छोड़ने तथा सत् का पक्ष ग्रहण करने का निश्चय कर लेने पर भी यह स्मरण रखना बहुत जरूरी है कि सत् एवं असत् के अनेकानेक भेद हैं। शुद्ध और अशुद्ध अर्थात् धर्म और अधर्म, आवश्यक और अनावश्यक अर्थात् मुख्य और गौण, उपयोगी और अनुपयोगी, सत्य और असत्य, स्वार्थ युक्त और स्वार्थ-रहित—इन सबों के मध्य भेद करने की आवश्यकता तब भी बाक़ी रहती है।

धर्म के रास्ते पर चलें अथवा अधर्म के—इसके तय करने में तो कठिनाई नहीं होनी चाहिये, क्योंकि जो लोग गुरु-देव के रास्ते पर चलना चाहते हैं वे पहले से ही इस बात का निर्णय कर चुके रहते हैं कि चाहे जो हो—चाहे जो भी मुसीबतें क्यों न झेलनी पड़ें—पर धर्म के ही रास्ते पर चलेंगे। लेकिन शरीर और मनुष्य दो हैं और मनुष्य की जो इच्छा होती है वही इच्छा सदा शरीर की भी नहीं होती। इसलिये जब शरीर की कुछ इच्छा हो, तो आपको जरा रुक कर सोचना चाहिये कि यह वास्तव में आपकी भी इच्छा है या नहीं। क्योंकि, आप (अर्थात् आत्मा) तो स्वयं ईश्वर हैं। इसलिये जो ईश्वर की इच्छा होगी वही असल में आपकी भी इच्छा होगी। लेकिन जब आप अपने अन्दर बहुत गहराई में खोद कर प्रवेश करेंगे, तभी आप अपने

अन्दर बैठे ईश्वर को पा सकेंगे और उनकी वाणी सुन सकेंगे, जो वास्तव में आपकी ही वाणी है। चाहे शरीर हो, अथवा इन्द्रिय, अथवा मन; अथवा, दूसरे शब्दों में, चाहे स्थूल शरीर हो, अथवा वासना शरीर अथवा मानसिक शरीर—इन तीनों में से किसी के सम्बन्ध में आपको यह नहीं समझना चाहिये कि यही हम हैं। अपनी निजी इच्छा की पूर्त्ति कराने के लिये इनमें से हर एक अपने आपको आपके सामने ऐसा दिखलाने की कोशिश करेगा कि मैं ही आत्मा हूँ। लेकिन आपको इन सबों को अच्छी तरह जान लेना चाहिये कि ये क्या-क्या हैं और साथ ही आपको यह भी जान लेना चाहिये कि आप इनमें से कोई नहीं हैं, बल्कि आप इन सबों के मालिक हैं।

जब कोई आवश्यक काम सामने आ जाता है, तो उस समय देह यह चाहती है कि "अरे, कौन अभी काम करने जाय, जरा आराम तो कर लें अथवा जरा टहल-घूम तो लें अथवा कुछ नाश्ता-पानी तो कर लें, फिर देखा जायगा।" और जिस आदमी को यथेष्ट ज्ञान प्राप्त नहीं है, वह समझता है कि "मैं यह सब करना चहता हूँ। मेरे लिये यह करना जरूरी है।" लेकिन, जिस आदमी को यथेष्ट ज्ञान प्राप्त है, वह कहता है कि "जो वस्तु ऐसी इच्छाएँ कर रही है, वह मैं नहीं हूँ। इसलिये इसे अभी थोड़ी देर ठहरनी चाहिये।" जब किसी की सेवा का अवसर सामने आता है तो अक्सर इस देह में ऐसी भावना उत्पन्न होती है कि "मुझे इस काम को करने में कितना कष्ट उठाना पड़ेगा। कोई दूसरा ही इसे कर ले तो अच्छा होगा।" लेकिन ज्ञानी मनुष्य अपने शरीर को रोक कर उत्तर देता है कि "अच्छे काम के करने में मैं तुम्हें अपने रास्ते में कोई रुकावट नहीं डालने दूंगा।"

यह शरीर आपका वाहन है—आपके चढ़ने का घोड़ा है। इसलिये आपको इसके साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिये। आपको इसकी अच्छी देख-भाल करनी चाहिये। आपको इससे इसकी शक्ति के बाहर कोई काम नहीं लेना चाहिये। इसे उचित रीति से शुद्ध भोजन खिलाना चाहिये, शुद्ध पानी पिलाना चाहिये और सदा इसे साफ़-सुथरा रखना चाहिये। बल्कि बड़े चाव से इस बात का ख्याल रखना चाहिये कि ज़रा भी मैल कहीं इसमें न लगने पावे। इसका कारण यह है कि जब-तक शरीर पूर्ण रूप से स्वस्थ एवं पवित्र नहीं रहेगा, तब-तक आध्यात्मिक पथ पर चलने के लिये जिस तैयारी की जरूरत है वह पूरी न हो सकेगी, तब-तक उस तैयारी का अटूट अर्थात् निरन्तर दबाव आप कदापि सहन न कर सकेंगे। लेकिन एक बात पर ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि शरीर सदा आपके वश में रहे; शरीर कदापि आपके ऊपर अधिकार नहीं जमाने पावे।

इन्द्रियाँ अर्थात् वासना देह तो सदा इच्छाओं—दुर्जनों इच्छाओं—से भरी रहती है। यह चाहती है कि आप दूसरों पर क्रोध करें, कड़ी-तीखी बातें बोलें, दूसरों से डाह करें, रुपये-पैसे का लोभ करें, दूसरों के धन-वैभव की ईर्षा करें तथा उदास बने रहें। इतनी बातें तो यह चाहती ही है, इनके अलावे भी और बहुत-सी बातें चाहती है। लेकिन यह आपको कुछ नुक़सान पहुँचाने के ख्याल से ये बातें नहीं चाहती है, बल्कि इसलिये कि इसका तो स्वभाव ही यही है। भाँति-भाँति के भीषण कम्प अथवा भाव पैदा करते रहना और उन्हें बराबर बदलते रहना—यही इसे स्वाभाविक रीति से अच्छा लगता है। लेकिन आप तो ऐसी कोई वस्तु

नहीं चाहते। इसलिये जब कोई इच्छा आपके अन्दर उत्पन्न हो, तो आपको अच्छी तरह देख लेना चाहिये कि यह आपकी इच्छा है अथवा आपके शरीर अर्थात् वासना देह की।

फिर, अपने मन अथवा मानसिक शरीर की बात लीजिये। इसका क्या स्वभाव है? इसे क्या पसन्द आता है? इसे पसन्द आता है घमण्ड के साथ अपने आपको अन्य लोगों से पृथक् समझना, अपने को बड़ा और दूसरों को छोटा मानना। जब आप सांसारिक वस्तुओं से इसका मुँह मोड़ लेते हैं, तोभी यह अपना ही स्वार्थ साधने की फ़िक्र में लगा रहता है। इसकी सदा यही कोशिश रहती है कि जिसमें आप गुरु-देव के कार्य तथा दूसरों की सेवा का विचार छोड़ कर अपनी ही उन्नति की बातें सोचते रहें। जब आप ध्यान करने बैठते हैं, तो यह आपका ध्यान उस एक वस्तु की ओर से हटा कर जिस पर आप ध्यान जमाना चाहते हैं, उन अनेकानेक वस्तुओं की ओर ले जाना चाहता है जो इसे पसन्द आती हैं। किन्तु आप यह मन अथवा मानसिक शरीर तो हैं नहीं, बल्कि यह आपका है और आपके काम के लिये यह आपको मिला है। इसलिये, यहाँ भी, अर्थात् अपने मन तथा अपने में, भेद करने के लिये भी, विवेक की आवश्यकता है। इन मामलों में आपको निरन्तर सतर्क रहना चाहिये; नहीं तो आप सफलता नहीं प्राप्त कर सकेंगे।

गुप्त-विद्या के अनुकूल ठीक और बे-ठीक, सही और ग़लत, के बीच कोई समझौता नहीं हो सकता। जो सही अथवा ठीक हो, उसे आपको अवश्य करना ही चाहिये। उसके करने में चाहे कुछ भी कष्ट अथवा नुक़सान क्यों न उठाना पड़े, उसकी तनिक परवाह न करनी चाहिये। फिर

जो ग़लत हो, ठीक नहीं हो, उसे आपको हर्गिज़ नहीं करना चाहिये। अज्ञानी मनुष्य इस सिलसिले में चाहे कुछ भी सोचें-विचारें अथवा कहें-सुनें, उसकी आपको किञ्चित-मात्र परवाह नहीं करनी चाहिये। प्रकृति के गुप्त नियमों का अध्ययन आपको अच्छी तरह गहराई में डूब कर करना चाहिये। और जब ये नियम मालूम हो जायँ, तो उन्हीं के अनुकूल आपको अपना जीवन बनाना चाहिये। पर, हाँ, ऐसा करने में आपको तर्क एवं विवेक-बुद्धि (common sense) से सदा काम लेना चाहिये।

फिर, आपको प्रधान तथा अप्रधान वस्तुओं में भी भेद करना चाहिये। ठीक और वे-ठीक वस्तुओं के मामले में तो आपको अपने निर्णय पर चट्टान की तरह अचल डटे रहना ही चाहिये। लेकिन जो बातें कुछ विशेष महत्त्व की नहीं हैं, उनके सम्बन्ध में आपको हमेशे अपनी ही बात पर न अड़कर दूसरों की बातें मान लेनी चाहिये। क्योंकि आपको हमेशे नम्र एवं दयालु होना चाहिये, आपकी एक-एक बात तर्क-संगत होनी चाहिये और आपको हमेशे दूसरों का ख़याल रखना चाहिये, ताकि जो आज़ादी आप अपने लिये चाहते हैं वही आज़ादी दूसरों को भी मिल सके।

आपको यह देखने की कोशिश करनी चाहिये कि कौन-सा काम करने योग्य है। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि किसी काम का महत्त्व उसके बड़े अथवा छोटे होने पर निर्भर नहीं है। उदाहरण के लिये दो कामों को लीजिये, एक वह जो छोटा हो, पर गुरुदेव की सेवा में सीधे तौर से काम आने वाला हो, और दूसरा वह जो बड़ा हो और जिसे संसार के लोग अच्छा समझते हों। यहाँ ऐसे बड़े काम की अपेक्षा वह छोटा काम ही करना कहीं अच्छा है। आपको

केवल उपयोगी तथा अनुपयोगी कामों में ही भेद नहीं करना चाहिये, बल्कि अधिक उपयोगी तथा कम उपयोगी कामों में भी। ग़रीबों को खिलाना एक अच्छा, सुन्दर और उपयोगी काम है। फिर भी, उनके शरीरों को तृप्त कराने की अपेक्षा उनकी आत्माओं को तृप्त कराना कहीं अधिक ऊँचे दर्जे का तथा अधिक उपयोगी कार्य है। कोई भी धनी आदमी भोजन देकर शरीर को तृप्त करा सकता है। लेकिन जीव की तृप्ति तो केवल वे ही करा सकते हैं जो ज्ञानी हैं। इसलिये, यदि आपके पास ज्ञान है, तो यह आपका कर्त्तव्य है कि आप दूसरों को भी उस ज्ञान के प्राप्त करने में सहायता पहुँचायें।

पहले से आप चाहे कैसे ही बुद्धिमान क्यों न हों, फिर भी इस पथ पर आपको बहुत कुछ सीखना बाक़ी रहता है। बल्कि, अभी सीखने को तो इतना बाक़ी रहता है कि यहाँ भी यह निर्णय करने के लिये कि क्या सीखना चाहिये अथवा क्या नहीं सीखना चाहिये, अथवा क्या पहले सीखा जाय और क्या बाद में सीखा जाय, विवेक की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। सब प्रकार का ज्ञान तो उपयोगी ही वस्तु है, और एक दिन आपको सब ज्ञान प्राप्त भी हो जायगा। लेकिन जब-तक आपको थोड़ा-सा ही ज्ञान प्राप्त है, तब-तक आपको सावधानी से देखना चाहिये कि जो कुछ भी ज्ञान आपको प्राप्त हो वह ज्ञान का सबसे अधिक उपयोगी अंश हो।

ईश्वर प्रेम-स्वरूप भी हैं और ज्ञान-स्वरूप भी। इसलिये जितना ही अधिक ज्ञान आपको प्राप्त होगा, उतना ही अधिक ईश्वर का आविर्भाव आप अपने अन्दर व्यक्त कर सकेंगे। इसलिये आप अध्ययन तो अवश्य करें, लेकिन सबसे पहले

आप उन विषयों का ही अध्ययन करें, जिनसे दूसरों को सहायता पहुँचाने में आपको सबसे अधिक सहायता मिल सके। धैर्य के साथ आप अपने अध्ययन में लगे रहें; लेकिन इसलिये नहीं कि लोग आपको बुद्धिमान समझें और न इसलिये कि आपको ख़ुद ज्ञानवान होने का आनन्द प्राप्त हो, बल्कि इसलिये कि केवल कोई ज्ञानवान मनुष्य ही बुद्धिमानी के साथ सहायता पहुँचा सकता है। यदि आपको ज्ञान नहीं प्राप्त है, तो चाहे आप सहायता पहुँचाने की कितनी भी अधिक इच्छा क्यों न रखें, सम्भावना यही है कि उस हालत में आपसे भलाई की अपेक्षा बुराई ही अधिक होगी।

फिर, आपको सत्य और असत्य में भी भेद करना चाहिये। मन से, वचन से तथा कर्म से—सभी प्रकार से आपको पूरे तौर से सच्चा बनने का अभ्यास डालना चाहिये।

सबसे पहले विचार की सच्चाई को लीजिये। विचार सच्चा रखना कुछ हल्का काम नहीं है, क्योंकि संसार में बहुत-से असत्य विचार तथा बहुत मूर्खता-पूर्ण अन्ध-विश्वास फैले हुए हैं। जो कोई आदमी उनका दास बन चुका है वह कदापि उन्नति नहीं कर सकता। इसलिये जब कभी कोई विचार आपके सामने आये, तो उसके बारे में आपको ख़ुद सोचना चाहिये और ख़ुद तय करना चाहिये कि यह तर्क-संगत है या नहीं। "बहुतेरे लोग इस विचार को धारण करते हैं, इसलिये मुझे भी इसे धारण करना चाहिये"—ऐसा आपको कभी नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार, आपको कोई बात केवल इसलिये भी नहीं माननी चाहिये कि सदियों से लोग उसे मानते आये हैं और न इसलिये भी कि वह बात ऐसे धर्म-ग्रन्थों में लिखी हुई है जिसे लोग पवित्र मानते हैं। आपको हमेशे स्मरण रखना चाहिये कि अगर एक हज़ार

आदमी भी किसी बात पर पूरी तरह से सहमत हों, तोभी यदि वे उस विषय के जानकार नहीं हैं, तो उनकी राय की कोई क़ीमत नहीं। जो आदमी पवित्र-पथ पर चलना चाहता है उसे स्वतन्त्र रूप से स्वतः सोचने-विचारने का अभ्यास डालना चाहिये, क्योंकि अन्ध-विश्वास इस संसार में घोर-से-घोर बुराइयों में से एक है। इस अन्ध-विश्वास रूपी जाल-फाँस से आपको सदा बिल्कुल बे-लाग बचे रहना चाहिये।

फिर, दूसरों के प्रति आपका विचार सच्चा होना चाहिये। जो बात आपको निश्चित रूप से न मालूम हो, उसे आपको उनके बारे में हर्गिज़ नहीं सोचनी चाहिये। आपको ऐसा भी नहीं सोचना चाहिये कि मानो वे आपही के बारे में सदा सोचते रहते हों। यदि कोई आदमी कोई ऐसी काररवाई करे जिससे आप समझते हों कि आपका नुक़सान होगा, अथवा कोई ऐसी बात बोले जिसे आप समझते हैं कि आप ही के बारे में है, तो आपको झट ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि "उसका इरादा मुझे नुक़सान पहुँचाने का है।" बहुत सम्भव है कि उसके मन में आपके निसबत कुछ ख़्याल आया ही न हो, क्योंकि हर व्यक्ति बहुधा अपनी ही परेशानी में व्यस्त रहता है; अपनी परेशानी से उसे फ़ुरसत कहाँ कि वह दूसरे किसी के बारे में सोचे। इसी प्रकार, यदि कोई आदमी रंज होकर आपको कुछ बात कह दे, तो आपको ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि "वह मुझसे द्वेष करता है; वह मुझ पर आघात करना चाहता है।" हो सकता है कि किसी दूसरे मनुष्य अथवा किसी घटना की वज़ह से उसे रंज ही आया हो और चूँकि इत्तफ़ाक़ से उस रंज़िश की हालत में पहले आप ही उसे मिले, इसलिये उसने अपने क्रोध का वेग

आप ही पर उतार डाला। वह तो मूर्खता का कार्य कर ही रहा है, क्योंकि सब प्रकार का क्रोध मूर्खता के ही कारण होता है। लेकिन इसकी वजह से आपको उसके प्रति कोई असत्य विचार अपने मन में नहीं लाना चाहिये।

जब आप गुरु-देव के शिष्य हो जायँगे, तो उस समय अपना विचार गुरु-देव के विचार से मिला कर आप हमेशे यह जाँच कर सकेंगे कि आपका विचार सत्य है अथवा नहीं। बात यह है कि शिष्य तो गुरु-देव के साथ मिलकर एक हो जाता है। इसलिये उसके लिये केवल इतना ही आवश्यक है कि वह अपना विचार गुरु-देव के विचार के साथ मिला कर देखे, और उसे फ़ौरन पता लग जायगा कि उसका विचार गुरु-देव के विचार से मिलता है या नहीं। यदि उसका विचार गुरु-देव के विचार से नहीं मिलता है तो वह ग़लत है और वह फ़ौरन उसे बदल देता है, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि गुरु-देव सर्वज्ञ हैं और इसलिये उनका विचार सदा सत्य, शुद्ध एवं पूर्ण होता है। जो लोग अभी स्वीकृत शिष्य (accepted disciple) के पद पर नहीं पहुँचे हैं, वे ठीक-ठीक ऐसा नहीं कर सकते। लेकिन एक अभ्यास से उन्हें भी बहुत सहायता मिल सकती है। उन्हें ज़रा ठहर कर सोचना चाहिये कि—"इस प्रश्न पर गुरु-देव का विचार क्या होगा? ऐसी परिस्थिति में गुरु-देव क्या कहते अथवा क्या करते?" क्योंकि, जैसी कल्पना आप गुरु-देव के बारे में कर सकते हों कि वे कब, कैसे, क्या करते होंगे, क्या बोलते होंगे अथवा क्या सोचते होंगे, उसके विपरीत आपको कभी कोई काम करना अथवा कुछ बोलना अथवा कुछ सोचना न चाहिये।

बात-चीत में भी आपको सच्चा होना चाहिये। बात ठीक-

ठीक होनी चाहिये, उसमें कुछ बढ़ाव-घटाव नहीं होना चाहिये। आपको कभी किसी की नीयत पर आक्षेप नहीं करना चाहिये। बात यह है कि कौन आदमी कौन काम किस विचार से करता है, यह हर आदमी नहीं जान सकता। सिर्फ़ उसके गुरु-देव को ही उसके विचार पूरे तौर से मालूम होते हैं। हो सकता है कि वह कुछ ऐसे कारणों से कार्य विशेष कर रहा हो, जो आपके दिमाग़ में कभी आये ही न हों। फिर, यदि आप किसी की शिकायत की कोई बात सुनें, तो आपको उसे दुहराना नहीं चाहिये। हो सकता है कि वह बात सच्ची न हो। और अगर सच्ची हो भी, तोभी उसके बारे में कुछ नहीं ही कहना अच्छा है, अधिक दयालुता का कार्य है। कोई बात बोलने के पहले आपको अच्छी तरह सोच लेना चाहिये। ऐसा न करने से हो सकता है कि कोई असत्य बात आपके मुँह से निकल जाय।

आपका काम भी सच्चा होना चाहिये। आप ठीक जैसे हैं वैसे ही अपने को दिखलाना चाहिये। किसी भी प्रकार का बनावटी रूप धारण करने से भीतर से सत्य की पवित्र ज्योति के बाहर प्रगट होने में बाधा पहुँचती है। किन्तु आपको तो बाहर-भीतर ऐसा साफ़ और पवित्र बन जाना चाहिये, कि जिस प्रकार स्वच्छ पवित्र शीशे से होकर सूर्य की ज्योति साफ़-साफ़ चमकती है, वैसे ही सत्य की पवित्र ज्योति आपके अन्दर से भी निकल कर बाहर चमकती रहे।

फिर, आपको स्वार्थ और निःस्वार्थ में भी भेद करना चाहिये। स्वार्थ के अनेक रूप हैं, और जब आप समझते हैं कि हमने एक रूप में इसका समूल नाश कर दिया, तोभी वह पहले-सा ही पूर्ण शक्ति के साथ एक दूसरा रूप धारण करके आपके सम्मुख उपस्थित हो जाता है। लेकिन थोड़ा-

थोड़ा करके दूसरों की सेवा का भाव इतना आपके हृदय में भर जायगा कि अपने बारे में सोचने-विचारने के लिये न तो उसमें जगह रह जायेगी और न आपको उसके लिये समय ही रहेगा।

एक दूसरे प्रकार से भी आपको विवेक का अभ्यास करना चाहिये। चाहे कोई वस्तु अथवा कोई मनुष्य बाहर से कितना ही बुरा अथवा कितना ही कुरूप क्यों न दीख पड़े, किन्तु आपको तो उसके अन्दर ईश्वर का स्वरूप देखने का अभ्यास डालना चाहिये। दैवी जीवन एक भाव से आपके तथा आपके भाई के अन्दर मौजूद है; इसलिये उसके सहारे आप अपने भाई की मदद कर सकते हैं। उस दैवी शक्ति को अपने भाई के अन्दर कैसे जगायें, किस प्रकार उस शक्ति से अनुरोध करें, इसका तरीक़ा सीखिये। इस प्रकार आप अपने भाई को ग़लत रास्ते पर जाने से बचा सकेंगे।
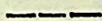
दूसरा साधन

वैराग्य अर्थात् वासना-त्याग

बहुतों के लिये वासना-रहित होना अर्थात् वासना या इच्छा का त्याग करना बहुत कठिन जान पड़ता है। इसका कारण यह है कि वे समझते हैं कि इच्छा ही तो हम हैं। यदि हमारी विशिष्ट इच्छाएँ हमसे हटा ली जायँ, यदि हमारे ख़ास पसन्द और ना-पसन्द की बातें हमसे अलग कर ली जायँ, तो फिर हमारा बचेगा क्या? हम रह ही क्या जायेंगे?" लेकिन ऐसी बातें केवल वे ही लोग करते हैं जिन्हें गुरु-देव का दर्शन नहीं प्राप्त हुआ है। उनके पवित्र एवं दिव्य स्वरूप के सम्मुख, अर्थात् उनका पवित्र दर्शन प्राप्त होते ही, केवल एक यही इच्छा हृदय में शेष रह जाती है कि "हम भी उनके समान बनें।" इसके अलावे अन्य सभी इच्छाओं का नाश हो जाता है। फिर भी, प्रत्यक्ष रूप से उनके सम्मुख उपस्थित होने का सौभाग्य तथा आनन्द प्राप्त करने के पहले भी, यदि आप चाहें तो आप इच्छा-रहित हो सकते हैं। विवेक द्वारा आपको अच्छी तरह पता चल चुका होगा कि धन, वैभव, आदि, अनेक वस्तुएँ जिन्हें बहुतेरे मनुष्य चाहते हैं, वे वास्तव में प्राप्त करने योग्य नहीं हैं। जब आप ऐसा केवल ज़बानी कहते ही नहीं, बल्कि ठीक ऐसा ही अनुभव भी करते हैं, तो इन वस्तुओं की इच्छा बिल्कुल जाती रहती है।

यहाँ तक तो बात बहुत सरल है, बहुत सीधी-सादी है। इसके लिये सिर्फ़ इतना ही आवश्यक है कि समझ से काम लिया जाय। लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं जो सांसारिक

विषयों के पीछे दौड़ना केवल इसी ख्याल से छोड़ते हैं कि जिसमें उन्हें स्वर्ग प्राप्त हो अथवा आवागमन से उनकी मुक्ति हो जाय। ऐसी भूल आपको हर्गिज़ नहीं करनी चाहिये। अगर आपने अपने को बिल्कुल भुला दिया है अर्थात् अगर आपने अपना निजी ख़्याल बिल्कुल छोड़ दिया है, तो फिर आप यह थोड़े ही सोचते रहेंगे कि कब हमारी मुक्ति होगी अथवा किस प्रकार का स्वर्ग हमें प्राप्त होगा। याद रखिये कि चाहे किसी इच्छा का लक्ष्य कितना ही ऊँचा क्यों न हो, फिर भी यदि उसके साथ स्वार्थ का भाव लगा हुआ हो, तो वह अवश्य बन्धन में डालती है। ऐसी स्वार्थ युक्त इच्छाओं से जब-तक आप बिल्कुल अलग न हो जायेंगे, तब-तक आप गुरु-देव के कार्य में अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर देने के योग्य कदापि न होंगे।

जब निजी स्वार्थ सम्बन्धी सारी वासनाएँ जाती रहती हैं, तब भी एक इच्छा बाक़ी रह सकती है कि "हमने जो कुछ किया, देखें तो सही उसका फल क्या निकला।" जब आप किसी की मदद करते हैं, तो आप यह देखना चाहते हैं कि "कहाँ तक मेरे द्वारा उसे सहायता मिली।" कदाचित् आप यह भी चाहते हैं कि वह भी इस बात को जाने कि उसे आपके द्वारा कितनी मदद मिली और उसके लिये वह आपका आभारी हो। किन्तु यह भी तो एक प्रकार की वासना ही है। फिर इससे विश्वास का अभाव भी प्रगट होता है। जब आप किसी की सहायता करने के लिये अपनी शक्ति को लगाते हैं, तो चाहे आप उसका नतीजा देख सकें अथवा न देख सकें, किन्तु नतीजा निकलेगा तो अवश्य ही। यदि आप कर्म का नियम जानते हों तो आपको अच्छी तरह मालूम होगा कि ऐसा अवश्य होना ही

चाहिये। इसलिये, जो वस्तु ठीक है, उसे केवल ठीक होने के ही नाते करना चाहिये, पर इस आशा से नहीं कि उससे कुछ लाभ प्राप्त होगा। इसी प्रकार, जो कार्य करने योग्य है उसे करने योग्य होने के ही नाते करना चाहिये, उसका फल प्राप्त करने अथवा उसका फल देखने की आशा से नहीं। आपके लिये तो यही उचित है कि आप अपने आपको संसार की सेवा में पूर्ण रूप से समर्पित कर दें, क्योंकि आप तो समस्त संसार को प्यार करते हैं और इसलिये संसार की सेवा में अपने आपको समर्पित किये बिना आप रह नहीं सकते।

सिद्धियाँ प्राप्त करने की इच्छा बिल्कुल न रखिये। जब गुरु-देव देखेंगे कि आपके लिये इन विभूतियों के प्राप्त करने का अच्छा से अच्छा समय आ गया, तो ये अवश्य आपको प्राप्त हो जायेगी। उचित समय से पहले इनको जाग्रत करने से अक्सर भाँति-भाँति के उपद्रव होने लगते हैं। अक्सर ऐसे मनुष्य भूत-प्रेतादि के धोखे में पड़ कर ग़लत रास्ते पर भटक जाते हैं, अथवा घमण्ड से चूर हो कर समझने लगते हैं कि "हम जो कुछ करते हैं वही ठीक है। उसमें कोई ग़लती हो ही नहीं सकती ?" जो हो, ऐसी विभूति के प्राप्त करने में जो समय तथा शक्ति लगानी पड़ती है, उनका बहुत अच्छा सदुपयोग दूसरों की सेवा के कुछ कार्य करने में हो सकता था। विकास-क्रम में एक दिन इन विभूतियों की प्राप्ति का समय आ ही जायगा—अवश्यमेव इनकी प्राप्ति हर किसी को होगी। फिर, अगर गुरु-देव देखेंगे कि आपके लिये उनका कुछ पहले ही प्राप्त करना उपयोगी होगा, तो वे आपको बतला देंगे कि किस प्रकार निर्विघ्नता-पूर्वकभू उन वितियों को जगाना चाहिये। जब तक

वह समय नहीं आये, तब-तक आपके लिये उनके बिना ही रहना कहीं अच्छा है।

कुछ छोटी-छोटी इच्छाएँ जो नित्य-प्रति के जीवन में आम तौर से सामने आया करती हैं, उनसे भी आपको बचे रहना चाहिये। कभी लोगों के सामने चमकते हुए प्रतीत होने अथवा चतुर कहलाने की इच्छा न कीजिये। कभी बोलने की इच्छा न रखिये। कम बोलना अच्छा है; जब-तक आपको पूरा विश्वास न हो कि जो-कुछ आप बोलना चाहते हैं वह सत्य है, प्रिय है तथा हितकर अथवा उपयोगी है, तब-तक कुछ नहीं ही बोलना कहीं अच्छा है। कुछ भी बोलने के पहले .खूब सावधानी से देख लेना चाहिये कि जो कुछ मैं कहने जा रहा हूँ उसमें ये तीनों गुण वर्त्तमान हैं अथवा नहीं। यदि उसमें इनमें से किसी एक गुण की भी कमी हो तो उसे नहीं ही कहना चाहिये।

बोलने के पहले सावधानी से सोच-विचार कर लेने का अभ्यास अभी से ही डालना अच्छा है। क्योंकि जब आप दीक्षा प्राप्त कर लेंगे, तो आपके लिये एक-एक शब्द पर ध्यान देना आवश्यक होगा, ताकि ऐसा न होने पावे कि जो बात नहीं कही जानी चाहिये वह कहीं आपके मुँह से न निकल जाय। साधारण तौर से जितनी बात-चीत की जाती है, उसका अधिकांश भाग अनावश्यक तथा मूर्खता से भरा रहता है। फिर गपशप अथवा निन्दा करना तो बहुत ही बुरा काम है। इसलिये बोलने की अपेक्षा अधिक सुनने का अभ्यास डालिये। जब-तक सीधे आप से कोई राय न पूछे, तब-तक किसी बात मे राय न दीजिये। इस पवित्र-पथ के साधन का वर्णन एक प्रकार से यों किया जाता है: जानना, साहस

करना, सङ्कल्प करना और चुप रहना। इन चारों में अन्तिम साधन सबसे कठिन है।

एक दूसरी साधारण इच्छा दूसरों के कामों में दख़ल देने की है। इसे भी आपको कड़ाई के साथ दबाये रखनी चाहिये। कोई दूसरा आदमी क्या करता है अथवा क्या कहता है अथवा किन-किन बातों पर विश्वास रखता है, इनसे आपको कोई मतलब नहीं, कोई सरोकार नहीं। ऐसी बातों में आपको उसे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र छोड़ देने का अभ्यास डालना चाहिए। जब-तक कोई आदमी किसी दूसरे के साथ छेड़-छाड़ न करे तब-तक उसे पूरी आज़ादी होनी चाहिये कि वह जैसा चाहे वैसा सोचे अथवा बोले अथवा करे। आप चाहते हैं कि जो कुछ आप उचित समझें उसके करने की पूरी आज़ादी आपको हो। उसी तरह अपने पसन्द के मुताबिक़ काम करने की पूरी आज़ादी आपको दूसरों को भी देनी चाहिये। और जब कोई आदमी अपने अधिकार के अनुकूल स्वतन्त्रता-पूर्वक कार्य करता हो तो उसके बारे में इधर-उधर कुछ बात-चीत करने का आपको कोई अधिकार नहीं है।

यदि आप समझते हैं कि वह कुछ ग़लती कर रहा है, तो यदि आप ऐसा अवसर निकाल सकें कि आप उसे अकेले में और बहुत नम्रता-पूर्वक समझा सकें कि आप क्यों ऐसा समझते हैं, तो हो सकता है कि वह अपनी ग़लती समझ जा सके। लेकिन कई मौक़ों पर ऐसा करना भी अनुचित छेड़-छाड़ ही सिद्ध होगा। जो हो, पर किसी भी हालत में आपको अलग जाकर किसी तीसरे आदमी से उसकी निन्दा हर्गिज़ नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करना घोर दुष्टता का काम है।

यदि आप देखें कि कोई आदमी किसी बच्चे अथवा पशु के साथ निर्दयता का व्यवहार कर रहा है, तो उस समय उसे रोकने के लिये छेड़-छाड़ करना आपका कर्त्तव्य है। यदि आप किसी को अपने देश का कोई नियम भंग करते देखें, तो आपके लिये उचित है कि उसकी सूचना आप अधिकारी-वर्ग को दे-दें। अगर किसी व्यक्ति के पढ़ाने-सिखाने का काम आपके सुपुर्द हो, तो उसके दोषों अथवा त्रुटियों को नरमी के साथ उसे बतला देना आपका कर्त्तव्य हो सकता है। ऐसे अवसरों के अलावे, आपको केवल अपने ही काम पर ध्यान देना चाहिये और मौन रहने का सद्गुण सीखना चाहिये।

तीसरा साधन

षट्-सम्पत्ति अर्थात् सदाचार

षट्-सम्पत्ति अथवा सदाचार सम्बन्धी छः सद्गुण हैं, जिनकी इस पथ पर विशेष रूप से आवश्यकता पड़ती है। उनके नाम गुरु-देव ने इस प्रकार बतलाये—

(१) मन का संयम,
(२) कार्य में संयम,
(३) सहनशीलता,
(४) चित्त की प्रसन्नता,
(५) एकाग्रता, तथा
(६) विश्वास।

[मैं जानता हूँ कि जिस प्रकार इस पुस्तिका में वर्णित चार साधन अक्सर कुछ दूसरे नामों द्वारा प्रगट किये जाते हैं, उसी प्रकार इन सद्गुणों के लिये भी अक्सर दूसरे ही दूसरे नाम दिये जाते हैं। लेकिन यहाँ पर तो मैं केवल उन्हीं नामों का उपयोग कर रहा हूँ, जिन नामों से गुरु-देव ने मुझे इन्हें बतलाया था। —लेखक।

संस्कृत में इनके लिये क्रमशः इन नामों का व्यवहार किया जाता है—(१) शम, (२) दम, (३) उपरति, (४) तितिक्षा, (५) समाधान और (६) श्रद्धा। अतः सुविधा के लिये आगे ऊपर दिये हुए नामों के साथ-साथ इन नामों का उपयोग भी किया जायगा। —अनुवादक।]

(१) शम अर्थात् मन का संयम

वैराग्य अर्थात् वासना-त्याग से यह ज्ञात हो चुका होगा कि वासना देह अर्थात् इन्द्रियों को वश में रखना चाहिये। उसी

प्रकार शम अर्थात् मन के संयम से यह पता चलता है कि मानसिक शरीर अर्थात् मन को भी वश में रखना चाहिये। इसका आशय हुआ—(क) चित्त का संयम, ताकि आपके अन्दर क्रोध अथवा अधीरता न आने पावे, (ख) मन का संयम, ताकि आपके विचार सदा शान्त हों, उद्वेग-युक्त न हों, और (ग) (मन के द्वारा) तन्तुओं का संयम, ताकि, जहाँ-तक सम्भव हो, ये कम से कम कुपित होने पावें। तन्तुओं का संयम बहुत ही कठिन काम है, क्योंकि जब आप पवित्र-पथ पर चलने के लिये अपने को तैयार करने लगते हैं, तो आप अपने शरीर को पहले से अधिक प्रभाव-शील बनाये बिना नहीं रह सकते। इसका नतीजा यह होता है कि ज़रा-सी आवाज़ होने से अथवा ज़रा-सी चोट लगने से शरीर के तन्तुओं में खलबली पैदा हो जाती है और बाहर से यदि कुछ हल्का भी दबाव उन पर पड़ा तो उन्हें बहुत पीड़ा होने लगती है। लेकिन, फिर भी, आप से जहाँ तक हो सके, इनके संयम की भी पूरी कोशिश करनी चाहिये।

शान्त मन से अभिप्राय साहस से भी है, ताकि आप इस पथ की कड़ी जाँचों तथा कठिनाइयों का सामना निडर होकर कर सकें। इससे अभिप्राय संलग्नता अथवा दृढ़ता से भी है, ताकि जब कठिनाइयाँ अथवा विपत्तियाँ आपके सामने आयें, जैसा कि हर किसी के जीवन में आया करती हैं, तो आप उन्हें हल्का समझ कर हँस कर उड़ा दिया करें, और जैसे छोटी-छोटी बातों पर अधिकांश मनुष्य भाँति-भाँति की चिन्ताएँ किया करते हैं, वैसी चिन्ताएँ आप हर्गिज़ अपने पास फटकने न दें। गुरु-देव की यह शिक्षा है कि बाहर से अपने ऊपर चाहे कुछ भी घटनाएँ क्यों न घटित हों—जैसे, भाँति-भाँति के शोक, विपत्तियाँ, बिमारियाँ, नुक़सान,

आदि—पर, वास्तव में इनकी कुछ भी क़ीमत नहीं है। ये सारी वस्तुएँ साधक के लिये बिल्कुल, तुच्छ, कुछ नहीं के बराबर, होनी चाहियें। और इनकी वजह से उसे अपने मन की शान्ति बिल्कुल भंग नहीं होने देनी चाहिये। ये तो पिछले कर्मों के फल-मात्र हैं। अतः जब ये आपके सामने आकर उपस्थित हो जायँ, तो आपको इन्हें सहर्ष बर्दाश्त अर्थात् स्वीकार कर लेना चाहिये। ऐसी हालतों में आपको सदैव स्मरण रखना चाहिये कि सभी प्रकार के कष्ट अथवा दुःख तो केवल क्षणिक अर्थात् शीघ्र नाश होने वाले हैं; और यह भी कि आपका कर्त्तव्य तो सदैव हर हालत में प्रसन्न-चित्त तथा शान्त रहना है। इन आपदाओं का सम्बन्ध आपके पूर्व जन्मों से है, वर्त्तमान जन्म से नहीं। अब आप इनको बदल तो सकते नहीं; इसलिये इनके बारे में कुछ भी तरद्दद मन में लाना बिल्कुल बेकार है। उसके बदले बल्कि आपको अपना ध्यान इस बात पर जमाना चाहिये कि आज अभी क्या कर रहे हैं, क्योंकि इसी के अनुकूल आपके भविष्य जन्म की घटनाएँ निर्धारित होंगी। उसे आप बदल सकते हैं; उसे बदलने का अधिकार आज आपको हासिल है।

आपको हर्गिज़ अपने चित्त में उदासी अथवा खिन्नता का भाव नहीं आने देना चाहिये। उदास होना ठीक नहीं है, क्योंकि उदासी संक्रामक रोग की नाईं फैलती है। एक की उदासी के कारण आस-पास वाले दूसरे लोगों पर भी उदासी छा जाती है। इसकी वजह से उनके जीवन की कठिनाइयाँ भी अधिक बढ़ जाती हैं। किन्तु आपको दूसरों का जीवन कठिन बनाने का कोई अधिकार नहीं है। इसलिये यदि कभी भी उदासी अन्दर आ जाय, तो आपको फ़ौरन इसे

निकाल कर दूर हटा देना चाहिये।

एक दूसरे प्रकार से भी आपको अपना मन वश में रखना चाहिये। आपको इसे इधर-उधर भटकने नहीं देना चाहिये। चाहे जो कुछ भी काम आप करते हों, उसी पर आपको अपना मन दृढ़ता-पूर्वक जमाये रखना चाहिये, ताकि वह काम पूर्ण रूप से अच्छी तरह से किया जा सके। आपको अपना मन खाली भी नहीं रखना चाहिये; बल्कि इसका पृष्ठ भाग सदा कुछ अच्छे विचारों से भरा रखना चाहिये, ताकि ज्यों ही मन किसी काम से खाली हुआ कि वे तत्काल इसके सामने आ उपस्थित हो जायँ।

आपको अपनी विचार-शक्ति का उपयोग नित्य-प्रति कुछ अच्छे-अच्छे कामों के लिये करना चाहिये। आपको विकास-क्रम के सञ्चालन के निमित्त एक शक्ति अथवा स्रोत बन जाना चाहिये। प्रति-दिन किसी ऐसे आदमी के बारे में सोचिये जो आपके जानते शोक ग्रस्त अथवा दुःखी हो अथवा जिसे किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता हो, और उसके ऊपर प्रेम-पूर्ण विचारों की भली-भाँति वर्षा कीजिये।

अपने मन में कभी घमण्ड का भाव न घुसने दीजिये, क्योंकि घमण्ड की उत्पत्ति केवल अज्ञानता से होती है। जो नहीं जानता है, जो अज्ञानी है, वही ऐसा समझता है कि 'मैं बड़ा हूँ' अथवा 'मैंने यह बड़ा काम किया और वह बड़ा काम किया'। परन्तु, ज्ञानी पुरुष तो जानता है कि केवल एक ईश्वर ही बड़ा है और सब अच्छे काम केवल उसी ईश्वर की शक्ति अथवा दया द्वारा सम्पादित होते हैं।

(२) दम अर्थात् कार्य में संयम

यदि आपके विचार ठीक हों, जैसा उन्हें होना चाहिये, तो कार्य को ठीक करने में आपको कोई

दिक़्क़त न उठानी पड़ेगी। फिर भी, आपको स्मरण रखना चाहिये कि यदि आप मानव-समाज की सेवा में उपयोगी बनना चाहते हैं, तो आपका विचार मानसिक क्षेत्र में ही न रह कर कार्य-रूप में परिणत भी होना चाहिये। अच्छे कार्य करने में आपको निरन्तर संलग्न रहना चाहिये, उसमें तनिक भी सुस्ती न आने देनी चाहिये। परन्तु. आपको सदा अपना ही कार्य करना चाहिये, दूसरे किसी का नहीं। हाँ, यदि आप समझते हैं कि दूसरे के काम में आप कुछ सहायता पहुँचा सकते हैं, तो उसकी इजाज़त लेकर केवल उसके सहायतार्थ उसका काम आप कर सकते हैं। हर किसी को अपना-अपना कार्य अपने-अपने ढंग से करने के लिये स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये। जहाँ कहीं सहायता की आवश्यकता हो, वहाँ सहायता पहुँचाने के लिये आपको सदा तत्पर रहना चाहिये; लेकिन हर्गिज़ दूसरे के काम में आपको छेड़-छाड़ नहीं करनी चाहिये। दुनिया में बहुतेरे लोगों के लिये यह सीखना सबसे मुश्किल काम है कि केवल अपने ही काम पर ध्यान देना चाहिये। लेकिन आपको तो ठीक ऐसा करना ही चाहिये।

चूँकि आप ऊँचे दर्जे के काम हाथ में लेना चाहते हैं, इसलिये आपको अपने साधारण कर्तव्यों को भूल नहीं जाना चाहिये, क्योंकि जब-तक आप इन्हें पूरा न कर लेंगे तब-तक आप दूसरे प्रकार की सेवा के लिये मुक्त नहीं हो सकेंगे। हाँ, आपको कोई नया सांसारिक कर्त्तव्य हाथ में नहीं लेना चाहिये। लेकिन जो कर्त्तव्य आप पहले से हाथ में ले चुके हैं, उनकी पूर्त्ति तो आपको यथेष्ट रूप से करनी ही चाहिये। इस सिलसिले में दूसरे लोग अपनी कल्पना के अनुकूल जिन कर्त्तव्यों के पूरा करने का भार आपके ऊपर मढ़ना

चाहें, उन पर आपको ध्यान देने की ज़रूरत नहीं। लेकिन जिन कर्त्तव्यों को आप स्वतः स्पष्ट रूप से तथा तर्क-दृष्टि से उचित समझते हैं, उन्हें तो आपको ठीक से पूरा करना ही चाहिये। यदि आप गुरु-देव का सेवक बनना चाहते हैं, तो आपको साधारण काम भी दूसरे लोगों की अपेक्षा उत्तम रीति के करना चाहिये, ख़राब तरीक़े से नहीं, क्योंकि आपको तो उसे भी गुरु-देव के ही निमित्त करना चाहिये।

(३) उपरति अर्थात् सहनशीलता

आपको सबों के प्रति पूर्ण सहनशीलता का भाव हृदय में रखना चाहिये और जैसा सच्चा अनुराग आपके दिल में अपने धर्म के विश्वासों के सम्बन्ध में रहता है, वैसा हो दूसरों के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में भी रखना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार आपका धर्म ऊँचे-से-ऊँचे पद पर पहुँचाने का रास्ता है, वैसे ही उसी ऊँचाई तक पहुँचाने का रास्ता दूसरे का धर्म भी है। फिर सबों की सहायता करने के योग्य बनने के लिये, सबों को समझना भी आपके लिये आवश्यक है।

लेकिन, ऐसी पूर्ण सहनशीलता प्राप्त करने के लिये आपको सबसे पहले कट्टरता तथा अन्ध-विश्वास से मुक्त हो जाना चाहिये। आपको यह सीख लेना चाहिये कि किसी प्रकार का विधि-विधान आवश्यक नहीं है। अन्यथा, जो लोग उस प्रकार के विधि-विधान में शरीक नहीं होंगे उनसे आप अपने को किसी भाँति श्रेष्ठ समझने लग जायेंगे। फिर अभी जो लोग विधि-विधान अथवा कर्म-काण्ड में आसक्त हैं, उनका निरादर भी आपको नहीं करना चाहिये। जैसा वे उचित समझें वैसा उन्हें आपको करने देना चाहिये। पर,

हाँ, आपके साथ भी उन्हें इस सम्बन्ध में कुछ छेड़-छाड़ नहीं करनी चाहिये। आप तो इस तत्त्व को जान चुके। आपके लिये इन विधि-विधानों से परे रहना ही उचित है। अतः जिस लकीर को आप पार कर चुके हैं, उसके अन्दर आपको मजबूरी फँसा कर रखने की कोशिश करना उनके लिये उचित नहीं। आपको हर बात के हर पहलू के लिये उचित ख्याल रखना चाहिये, हर किसी के प्रति दयालुता का भाव दर्शाना चाहिये।

अब तो आपकी आँखें खुल गयी हैं। इसलिये हो सकता है कि अब आपको अपने कुछ पुराने विश्वास, कुछ पुराने क्रिया-कर्म, निरे मूर्खता-युक्त प्रतीत होते हों। सम्भव है कि वे वास्तव में वैसे ही हों भी। अतः अब आप तो उनमें भाग ले नहीं सकते। तोभी जिन भद्र पुरुषों के हेतु वे अभी भी महत्त्व-पूर्ण हैं, उनके लेहाज से आपको उनका आदर करना चाहिये। उन विधानों का उचित स्थान है। उनका उचित उपयोग भी है। वे आपके बचपन की उन दो लकीरों की नाईं हैं जिनके सहारे आपने सीधा तथा बराबर लिखना सीखा। बाद में बिना उनकी सहायता के आपने कहीं अच्छा और कहीं अधिक आज़ादी से लिखना सीख लिया और तब उनकी जरूरत न रही। लेकिन, एक समय था जब आपको उनकी जरूरत थी। हाँ, अब वह समय गुज़र जा चुका।

एक महान् आचार्य ने एक बार लिखा था कि "जब मैं बच्चा था तो मैं बच्चे की-सी बातें बोलता था, मेरी समझ बच्चे की-सी थी और मेरे विचार भी बच्चे के-से थे; परन्तु, जब मैं सयाना हो गया, तब मैंने बचपन की सारी बातें छोड़ दीं।" फिर भी, जो आदमी अपना बचपन भूल चुका है और जिस में बच्चों के प्रति सहानुभूति नहीं रही है, वैसा आदमी न तो

बच्चों को कुछ सिखा सकता है और न उनकी कुछ मदद ही कर सकता है। इसलिये, सबों की ओर दयालुता, नम्रता एवं सहनशीलता भरी आँखों से देखिये ; पर, हाँ, सबों की ओर—चाहे वे हिन्दू हों अथवा बौद्ध, जैन हों अथवा यहूदी, ईसाई हों अथवा मुसलमान—सबों की ओर एक भाव से देखिये।

(४) तितिक्षा अर्थात् चित्त की प्रसन्नता

जो कुछ भी कर्म आपके सामने आ जाय उसे आपको हँसी-ख़ुशी से भुगत लेना चाहिये। बल्कि दु:ख का सामने आना तो आपके लिये गौरव की बात होनी चाहिये, क्योंकि इससे यह पता चलता है कि कर्माधिकारी देवता-गण आपको सहायता देने योग्य समझते हैं। अत: चाहे कैसा ही कठिन कर्म सामने क्यों न आये, उसके लिये आपको हृदय से धन्यवाद देना चाहिये कि वह और भी अधिक कष्ट-दायक नहीं है। याद रखिये जब-तक आप अपने बुरे कर्मों को भुगत कर उनसे मुक्त न हो जायँ, तब-तक आप गुरु-देव के लिये कुछ काम के नहीं हैं। आपने अपने को गुरु-देव की सेवा में समर्पित कर दिया है। इसका आशय यह हुआ कि आपने मानो प्रार्थना की है मेरे कर्म जल्द मुझसे भुगता लिये जायँ। इस प्रकार साधारण क्रम में जो कर्म आपको सैकड़ों जन्मों में भुगतने पड़ते, उन्हें अभी आप केवल एक अथवा दो जन्मों में भुगतने जा रहे हैं। लेकिन इस सुअवसर से अधिक-से-अधिक लाभ उठाने के लिये यह आवश्यक है कि आप इन दु:खों को प्रसन्नता-पूर्वक, हँसी-ख़ुशी से, भुगत लें।

एक बात और। आपको ममता का पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिये। सम्भव है कि जो वस्तुएँ आपको सबसे अधिक प्रिय हैं, कर्म-भोग के कारण वे आपके हाथों से निकल

जायँ। हो सकता है कि जिन लोगों को आप सबसे अधिक प्यार करते हैं, उनसे भी आपका विछोह हो जाय। ऐसी हालतों में भी आपको प्रसन्न-चित्त रहना चाहिये; आपको सदा हर एक वस्तु को त्यागने के लिये तत्पर रहना चाहिये। अक्सर गुरु-देव को अपनी शक्ति अथवा आशीर्वाद अपने सेवकों द्वारा दूसरों के पास भेजने की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु यदि कोई सेवक शोक-ग्रस्त अथवा मलिन हो, तो उसके द्वारा गुरु-देव यह कार्य नहीं कर सकते। अतः सदा प्रसन्न-चित्त रहना—यही आपका नियम होना चाहिये।

(५) समाधान अर्थात् एकाग्रता

आपको केवल एक लक्ष्य सदा अपने सामने रखना चाहिये। वह है—गुरु-देव का कार्य करना। अन्य दूसरा काम चाहे जो कुछ भी आपके सामने आये, किन्तु गुरु-देव का कार्य आपको हर्गिज़ नहीं भूलना चाहिये। फिर भी, कोई दूसरा कार्य आपके सामने आ ही नहीं सकता, क्योंकि जो-कुछ भी कार्य दूसरों के सहायतार्थ तथा निःस्वार्थ भाव से किये जाते हैं, वे सभी तो गुरु-देव के ही कार्य हैं और उन सबों को आपको गुरु-देव के ही नाम पर करना चाहिये। फिर, जिस समय आप चाहे जो भी काम करते हों, उस समय आपको अपना सारा ध्यान उसी काम पर लगाना चाहिये, ताकि वह आपका अच्छा-से-अच्छा काम हो सके। उपरोक्त आचार्य द्वारा ही लिखित यह वाक्य भी है कि चाहे जो-कुछ भी कार्य आप करें, उसे पूर्ण हृदय से करें। उसे हृदय में यह भाव रख कर करें कि मैं इसे ईश्वर की सेवा में समर्पण करने के हेतु कर रहा हूँ, इस भाव से नहीं कि मैं इसे केवल मनुष्यों के लिये कर रहा हूँ। सोचिये तो सही कि यदि आपको यह

मालूम होता कि गुरु-देव अभी आपका काम देखने आ रहे हैं, तो उस हालत में आप अपना काम कैसा अच्छा करते ? ठीक ऐसा ही भाव सदा अपने सामने रख कर आपको अपना सब काम करना चाहिये। जिन लोगों को वास्तव में बहुत ज्ञान प्राप्त है, वे ही उपरोक्त पद का सबसे गूढ़ अर्थ समझ सकेंगे। उसी प्रकार का, किन्तु उससे भी पुराना, एक दूसरा पद इस प्रकार है कि—"हाथ आये काम जो, जी-जान से कीजे उसे।"

समाधान अर्थात् एकाग्रता से यह भी अभिप्राय है कि जिस पथ पर आपने पाँव रखा है उससे आपको कोई भी वस्तु क्षण-मात्र के लिये भी विचलित न कर सके। आपको अपने पथ पर इस प्रकार सुदृढ़ होकर रहना चाहिये कि कोई प्रलोभन, कोई सांसारिक सुख अथवा कोई सांसारिक प्रेम भी आपको उस पथ से बिल्कुल हटा न सके। क्योंकि आपको तो अपने पथ के साथ मिलकर एक हो जाना चाहिये। इसे आपकी प्रकृति का एक ऐसा अङ्ग बन जाना चाहिये कि इस पर चले बिना आप रह न सकें; न तो इस पर चलने के लिये आपको कुछ सोचने की ज़रूरत पड़े और न आप इससे कभी डिग सकें। अपने आत्म स्वरूप में आपका, अर्थात्, आपकी आत्मा का, तो यह निर्णय हो चुका है। अतः इस निर्णय से विलग होने का अभिप्राय होगा अपने आपसे विलग होना, अपनी आत्मा से विमुख होना।

(६) श्रद्धा अर्थात् विश्वास

आपको अपने गुरु-देव पर विश्वास रखना चाहिये। आपको अपने ऊपर भी विश्वास रखना चाहिये। यदि आप गुरु-देव का दर्शन प्राप्त कर चुके हैं, तो अनेक

जन्म-जन्मान्तरों पर्यन्त आप अवश्य पूर्ण रूप से उन पर विश्वास करते रहेंगे। परन्तु यदि आपको अभी उनका दर्शन नहीं प्राप्त हुआ है, तोभी आपको उनकी अनुभूति प्राप्त करने तथा उन पर पूरा विश्वास करने का प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि, यदि आप उन पर विश्वास नहीं करेंगे, तो वे भी आपकी सहायता न कर सकेंगे। जब-तक आपका उन पर पूरा-पूरा विश्वास न होगा, तब-तक आपके और उनके बीच प्रेम एवं शक्ति का पूर्ण प्रवाह नहीं हो सकेगा।

आपको अपने ऊपर भी विश्वास रखना चाहिये। क्या आप समझते हैं कि मैं अपने को खूब अच्छी तरह जानता हूँ? यदि आपकी ऐसी भावना है, तो आप अपने को नहीं जानते हैं। आप केवल अपने दुर्बल बाहरी छिल्के को जानते हैं, जो बार-बार कीचड़ में फँस चुका है। लेकिन आप—असली आप—तो साक्षात् ईश्वर की लहलहाती ज्वाला की एक चिनगारी हैं, और ईश्वर जो सर्व शक्तिमान हैं, साक्षात् वे ही आपके हृदय के अन्दर विद्यमान हैं। इसलिये यदि आप दृढ़ सङ्कल्प कर लें तो संसार में कोई ऐसा कार्य नहीं है, जिसे आप न कर सकें। अपने मन में यह कहिये कि "एक मनुष्य जो कार्य कर चुका है, दूसरा मनुष्य भी उसको कर सकता है। मैं भी मनुष्य हूँ, बल्कि मनुष्य के भीतर स्थित साक्षात् ईश्वर भी हूँ। इसलिये मैं भी इसे कर सकता हूँ और मैं इसे अवश्य कर डालूँगा।" बात यह है कि यदि आप पवित्र-पथ पर चलना चाहते हैं, तो आपकी संकल्प-शक्ति तपाये हुए लोहे (इस्पात) की नाईं मजबूत होनी चाहिये।

———

चौथा साधन

मुमुक्षुत्व अर्थात् प्रेम

सभी साधनों में प्रेम सबसे अधिक महत्त्व का है, क्योंकि यदि यह काफ़ी मात्रा में किसी मनुष्य के अन्दर मौजूद हो तो इसके सहारे अन्य सभी साधनों की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु इसके अभाव में अन्य सभी साधन अधूरे ही रहेंगे, कदापि पूरे नहीं हो सकेंगे। अक्सर इस साधन का अनुवाद किया जाता है जन्म-मरण के आवागमन के चक्र से मुक्त होने तथा ईश्वर के साथ मिल कर एक हो जाने की उत्कट अभिलाषा। (मुमुक्षा अथवा मुमुक्षुत्व का शब्दार्थ यही है।—अनु०।) परन्तु, इस प्रकार वर्णन करने से इसमें कुछ स्वार्थ का भाव दिखलायी देने लगता है और इससे इस साधन के अर्थ का केवल एक अंश-मात्र प्रगट होता है। इस साधन से अभिप्राय इच्छा से है. लेकिन इच्छा का अर्थ वासना अथवा ख्वाहिश नहीं, बल्कि सङ्कल्प, दृढ़ सङ्कल्प है। इसकी सफलता के लिये यह आवश्यक है कि आपके हृदय का कोना-कोना इस सङ्कल्प से इस प्रकार भर जाय कि दूसरी किसी भावना के समाने के लिये उसमें कुछ जगह ही न रह जाय। हाँ, इससे अभिप्राय ईश्वर के साथ एक होने का सङ्कल्प है। लेकिन किस लिये? इसलिये नहीं कि आप सांसारिक झंझटों अथवा तकलीफ़ों से छुटकारा पा जायँ; बल्कि इसलिये कि ईश्वर के प्रति अगाध प्रेम रखने के कारण आप उनके साथ मिलकर कार्य कर सकें, तथा जिस रीति से ईश्वर कार्य करते हैं, उसी रीति से आप भी कार्य कर सकें।

ईश्वर प्रेम-रूप हैं। इसलिये यदि आप ईश्वर के साथ एक होना चाहते हैं, तो आपको भी पूर्ण निःस्वार्थता एवं प्रेम से परिपूर्ण होना चाहिये।

दैनिक जीवन के लिये इससे दो अर्थ निकलते हैं : एक तो यह कि आपको सदा सावधान रहना चाहिये कि किसी भी जीवित प्राणी को आपसे कुछ कष्ट न पहुँचने पाये; और दूसरा यह कि आपको सदा दूसरों को सहायता पहुँचाने का अवसर ढूँढ़ते रहना चाहिये।

पहले कष्ट न पहुँचाने की बात लीजिये। निन्दा, निर्दयता तथा अन्ध-विश्वास—ये तीन पाप ऐसे हैं जिनसे संसार में अन्य सभी पापों की अपेक्षा अधिक हानि पहुँचती है, क्योंकि ये तीनों ही प्रेम के विरुद्ध पाप कराते हैं। जो मनुष्य अपना हृदय ईश्वर के प्रेम से भरना चाहता है, उसे इन तीनों पापों से बचे रहने के लिये निरन्तर सतर्क रहना चाहिये।

देखिये, निन्दा अथवा गपशप से क्या होता है? निन्दा किसी बुरे विचार को लेकर आरम्भ होती है। यह अपराध नं० १ हुआ। बात यह है कि हर मनुष्य में तथा हर वस्तु में अच्छाइ मौजूद है; वैसे ही हर मनुष्य में तथा हर वस्तु में बुराई भी मौजूद है। इनमें से जिस किसी की ओर हम अपना विचार ले जायँ, अर्थात् जिस किसी के बारे में कुछ सोचें-विचारें, उसी की हम पुष्टि कर सकते हैं। इस प्रकार हम विकास-क्रम में सहायता पहुँचा सकते हैं अथवा बाधा उपस्थित कर सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हम ईश्वर की इच्छा के अनुकूल कार्य कर सकते हैं अथवा उसका विरोध कर सकते हैं। यदि आप किसी की बुराई का ख्याल मन में लाते हैं, तो आप एक ही साथ तीन भयङ्कर बुरे कार्य कर रहे हैं; यथा—

(१) आप अपने इर्द-गिर्द का वातावरण अच्छे विचार की जगह बुरे विचार द्वारा भर रहे हैं। इस प्रकार आप संसार में शोक अथवा दुःख की मात्रा बढ़ा रहे हैं।

(२) जिस आदमी की बुराई के बारे में आपने सोचा है, उस आदमी में अगर वह बुराई मौजूद है तो आप उसकी पुष्टि कर रहे हैं, आप उसे खुराक पहुँचा रहे हैं। इस प्रकार आप अपने भाई को कुछ अच्छा बनाने के बदले अधिक बुरा बना रहे हैं। लेकिन अक्सर ऐसा होता है कि जिस बुराई के बारे में आप सोचते हैं, वह बुराई उस आदमी के अन्दर मौजूद नहीं रहती है। आप केवल कल्पना कर लेते हैं कि वह बुराई उसमें है। उस हालत में आपका यह दुष्ट विचार उसको कुमार्ग पर चलने के लिये अथवा कुकर्म करने के लिये प्रोत्साहित करता है। इसका कारण यह है कि अगर वह आदमी अभी पूर्णता प्राप्त नहीं कर चुका है, तो उसके बारे में जैसा विचार आप अपने मन में लायेंगे, वैसा आप उसको बना सकते हैं।

(३) आप खुद अपने मन में अच्छे विचारों के बदले बुरे विचार भरते हैं। इस प्रकार आप स्वतः अपनी उन्नति में बाधा उपस्थित करते हैं और जो लोग आपका आभ्यान्तरिक स्वरूप देख सकते हैं, उनकी दृष्टि में आपका स्वरूप सुन्दर एवं प्रिय दिखायी देने के बदले कुरूप एवं दुखदायी दिखायी पड़ता है।

निन्दा करने वाला आदमी अपना तथा उस निन्दित मनुष्य का इतना नुक़सान तो करता ही है; लेकिन इतने से ही वह सन्तुष्ट नहीं हो जाता। बल्कि इस पाप-कर्म में अन्य मनुष्यों को भी अपना साथी बनाने में वह कोई कोशिश

उठा नहीं रखता है। बड़े चाव से वह अपनी दूषित कहानी उन्हें सुनाता है और पूरी आशा रखता है कि वे सभी भी उसे सत्य मानेंगे। और तब वे सब-के-सब एक साथ मिलकर उस गरीब विचारे पर उस दुष्ट विचार की भरपूर बौछार छोड़ते हैं। गपशप का यह सिलसिला दिनों-दिन जारी रहता है, और केवल एक ही आदमी द्वारा नहीं, बल्कि हज़ारों आदमियों द्वारा। क्या अब आपको कुछ पता चला कि निन्दा अथवा गपशप कितना निकृष्ट, कितना भयङ्कर पाप है? आपको इससे बिल्कुल दूर रहना चाहिये। कभी किसी की बुराई मुख से न निकालिये। यदि कोई आदमी किसी दूसरे की बुराई की बात आपसे कहे, तो आप उसके सुनने से इनकार कर दीजिये और विनम्र भाव से उस आदमी से कह दीजिये कि "शायद यह बात सत्य नहीं है। और यदि सत्य हो भी, तोभी इसे न कहने ही में अधिक दयालुता है।"

अब, निर्दयता के विषय पर विचार कीजिये। निर्दयता दो प्रकार से होती है: (१) जान-बूझ कर और (२) बिना जाने-बूझे। जान-बूझ कर जो निर्दयता की जाती है उसका तो लक्ष्य ही यही रहता है कि किसी दूसरे जीवित प्राणी को कष्ट पहुँचाया जाय। यह सभी पापों से बढ़ कर पाप है; यह तो शैतान या राक्षस का काम है, मनुष्य का काम नहीं। आप कह सकते हैं कि ऐसा काम कोई आदमी नहीं कर सकता। लेकिन बार-बार लोग ऐसा कर चुके हैं और आज भी लोग नित्य-प्रति ऐसा कर रहे हैं। ईसाई धर्म में इन्क्विज़िटरों (inquisitors) अर्थात् नास्तिकता अथवा पाखण्ड की जाँच करने वाले जजों ने ऐसा किया था। (मध्य काल में जब ईसाई धर्म में अन्ध-विश्वास की मात्रा बहुत बढ़ गयी थी,

उस समय की यह बात है। निश्चित परम्परा से ज़रा इधर-उधर करना कट्टर मतावलम्बियों को बिल्कुल नहीं भाता था। वे समझते थे कि ऐसा करने वाले सभी पथ-भ्रष्ट हैं, नास्तिक हैं। अन्त में कट्टर धर्मावलम्बियों ने यह तय किया कि धर्म की रक्षा के लिये इन नास्तिकों का नाश ही कर देना ठीक है। इसके लिये अनेक भयङ्कर रास्ते निकाले गये। ये तो समझते थे कि वे धर्म से च्युत हो चुके हैं; इसलिये उनकी आत्मा की रक्षा के लिये उनको जान से मार देना ही ठीक है अर्थात् धर्म के नाम पर उनकी हत्या की जाय। उसका एक रास्ता यह था कि दयालुता के साथ इनकी हत्या की जाय, अर्थात् इस प्रकार की एक बूँद भी रक्त बहाने की नौबत न आये। इसके लिये यह निर्णय किया गया कि चिता साज धधकती आग में जीते-जी उन्हें डाल दिया जाय। इस प्रकार कई हज़ार मनुष्यों की हत्या की गयी। कैसा अच्छा तरीक़ा था कि नास्तिकता की सज़ा भी उन्हें मिल जाय, उनकी आत्माएँ भी पुनः सुरक्षित हो जायँ और एक बूँद रक्त भी न गिरे! यह सब कुछ हुआ—और बहुत बड़े पैमाने पर हुआ—धर्म के नाम पर, धर्म की रक्षा करने वाले जजों द्वारा!—अनु०।)

इस प्रकार नास्तिकता की जाँच करने वालों ने ईसाई धर्म में ऐसा किया। बहुतेरे धार्मिक मनुष्यों ने अपने-अपने धर्म के नाम पर ऐसा किया। वैज्ञानिक परीक्षाओं के निमित्त जीवित प्राणियों की चीर-फाड़ करने वाले विविसेक्टर्स (vivisectors.) ऐसा कर रहे हैं। बहुतेरे स्कूल मास्टर बराबर ऐसा कर रहे हैं। ये सभी लोग इस आड़ में अपनी निर्दयता छिपाने की कोशिश करते हैं कि यह तो रिवाज की बात है, ऐसा ही तो बहुत दिनों से

होता आ रहा है। लेकिन चूँकि बहुतेरे लोग कोई अपराध करते हैं, इस वजह से वह अपराध अपराध नहीं रहा—ऐसा कदापि नहीं हो सकता है। कर्म का नियम रिवाज का कुछ ख्याल नहीं करता, और निर्दयता का कर्म तो सभी प्रकार के दुष्ट कर्मों से बढ़ कर भयङ्कर है। कम से कम भारतवर्ष में तो ऐसी प्रथाओं का कुछ भी बहाना नहीं किया जा सकता, क्योंकि यहाँ तो सभी लोग अहिंसा-धर्म को अच्छी तरह जानते हैं। फिर, जो लोग जान-बूझ कर ईश्वर के बनाये प्राणियों का बध करने जाते हैं और उसे "शिकार" अथवा "खेल" नाम देकर सन्तोष कर लेते हैं, निर्दयता का भयङ्कर दुष्परिणाम उन्हें भी अवश्य ही भुगतना पड़ेगा।

मैं जानता हूँ कि आप ऐसे कुकर्म न करेंगे, और जब कभी आपको अवसर मिलेगा तो ईश्वर के प्रेम के ख़याल से आप स्पष्ट रूप से इन कुप्रथाओं का अवश्य विरोध करेंगे। लेकिन जिस प्रकार कर्म द्वारा निर्दयता होती है, उसी प्रकार बात-चीत द्वारा भी निर्दयता की जा सकती है; और जो आदमी दूसरे को चोट पहुँचाने के ख्याल से कोई बात बोलता है, वह भी इस निर्दयता के अपराध का दोषी है। ऐसा भी आप नहीं करेंगे। लेकिन जैसा नुक़सान एक द्वेष-पूर्ण बात से होता है, वैसा ही कभी-कभी असावधानी से कही गयी बात द्वारा भी हो सकता है। इसलिये आपको सदा सतर्क रहना चाहिये कि कहीं अन्जान रूप से भी आपसे निर्दयता न हो जाय।

अक्सर ऐसा विचार-शून्य होने से होता है। एक आदमी लोभ तथा लालच में ऐसा डूबा रहता है कि उसे इस बात का कभी कुछ ख्याल ही नहीं होता कि मज़दूरी कम

देने से किसी को कुछ कष्ट होता है अथवा नहीं, अथवा स्वयं अपनी स्त्री तथा अपने बाल-बच्चों को भर पेट भोजन न देने से उन्हें कुछ तकलीफ़ होती है अथवा नहीं। दूसरा केवल अपने भोग-विलास की ही धुन में मस्त रहता है और इस बात की वह बिल्कुल परवाह नहीं करता कि अपने सुख के लिये मुझे कितने लोगों की आत्माओं तथा शरीरों का नाश करना पड़ता है। कितने लोग काम तो करा लेते हैं, पर मज़दूरों को समय पर मज़दूरी नहीं देते। इसके लिये दो-चार मिनट का कष्ट भी उठाना उनके लिये भारी हो जाता है। वे बिल्कुल सोचते ही नहीं कि इसकी वजह से उन मज़दूरों को कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। इस प्रकार की सारी तकलीफ़ों का कारण है केवल असावधानी, अर्थात् इस बात का न सोचना कि किस काम का असर दूसरों पर कैसा पड़ेगा। लेकिन कर्म का नियम कभी कोई बात भूलता नहीं। उसके नज़दीक मनुष्य के भूलने का कुछ ख़याल नहीं होता; अर्थात्, किसी आदमी ने भूलकर अथवा अंजान से कोई काम कर दिया, इसलिये उसका फल उसे नहीं मिलना चाहिये—ऐसा कभी नहीं हो सकता। यदि आप पवित्र-पथ पर प्रवेश करना चाहते हैं, तो जो-कुछ काम आप करें, उसके सम्बन्ध में आपको अच्छी तरह सोच लेना चाहिये कि इसका नतीजा दूसरों के लिये कैसा होगा, ताकि कहीं ऐसा न हो कि अविचार के कारण आप भी निर्दयता के दोषी बन जायँ।

अन्ध-विश्वास एक दूसरी घोर बुराई है। इसके कारण भी बड़ी भयङ्कर निर्दयताएँ हुई हैं। जो आदमी इसका दास बन जाता है वह अपने से अधिक बुद्धिमान लोगों के साथ घृणा करने लगता है। वह स्वतः जैसा करता है, उनको भी वैसा

ही करने के लिये मजबूर करना चाहता है। ज़रा सोचिये तो सही कि इस अन्ध-विश्वास से कि पशुओं को बलि-दान चढ़ाना चाहिये, कितने पशु काटे जाते हैं; और फिर इससे भी अधिक निर्दयता-पूर्ण अन्ध-विश्वास से कि मनुष्य के लिये मांस खाना आवश्यक है, किस वृहत् परिमाण में भयङ्कर हत्याएँ हो रही हैं। फिर, देखिये कि अन्ध-विश्वास के कारण हमारी प्यारी भारत-भूमि में नीची श्रेणी के लोगों के साथ कैसा दुर्व्यवहार हुआ है। इस सिलसिले में ख़ास बात नोट करने की यह है कि जो लोग भाईचारे का कर्त्तव्य भली-भाँति जानते हैं उनके अन्दर भी इस दुर्गुण के कारण कैसी हृदय-हीन कठोर निर्दयता पैदा हो सकती है। इसी अन्ध-विश्वास के भूत द्वारा प्रेरित होकर प्रेम-रूप ईश्वर के नाम पर अनेकों अत्यन्त घोर अत्याचार किये गये हैं। इसलिये इससे बचे रहने के लिये आपको भली-भाँति सतर्क रहना चाहिये, ताकि आपके अन्दर इसका लेश-मात्र अस्तित्व न रहने पाये।

इन तीनों महा अपराधों के रहते कभी किसी प्रकार की उन्नति हो नहीं सकती, क्योंकि इनके वशीभूत होकर मनुष्य को प्रेम के विरुद्ध पाप करना पड़ता है। इसलिये इन तीनों से तो आपको सर्वथा अलग रहना ही चाहिये। लेकिन आपके लिये इस प्रकार केवल बुराई से परहेज़ करना ही काफ़ी नहीं है; आपको भलाई करने में भी निरन्तर संलग्न रहना चाहिये। सेवा-भाव से आपका हृदय इस प्रकार परिपूर्ण रहना चाहिये कि आप सदा इस ताक में लगे रहें कि अपने इर्द-गिर्द जिस किसी को कुछ भी सेवा की आवश्यकता हो—चाहे वह मनुष्य हो अथवा पशु अथवा वनस्पति—आप फ़ौरन उसकी सेवा में उपस्थित हो जायँ। आपको नित्य-प्रति

छोटे-छोटे कामों में सेवा का अभ्यास करना चाहिये, ताकि आपको इसकी आदत लग जाय। तभी जब किसी महान् कार्य के करने का सुअवसर आपको प्राप्त होगा तो आप उसे छोड़ न सकेंगे। बात यह है कि यदि आप ईश्वर के साथ एक होने की सदभिलाषा रखते हैं, तो हर्गिज़ यह केवल अपने ही लिये नहीं हो सकता। वास्तव में आपकी इस अभिलाषा का यह तात्पर्य है कि आप एक ऐसा स्रोत बन जायँ कि आपके ज़रिये ईश्वर का प्रेम मनुष्य-मात्र के पास पहुँच सके।

जो कोई इस पवित्र-पथ का पथिक है, वह अपने लिये नहीं जीता है, वह तो दूसरों के लिये जीता है। वह अपने को बिल्कुल भुला देता है ताकि वह दूसरों की सेवा कर सके। वह मानो ईश्वर के हाथ में एक क़लम बन जाता है, जिसके द्वारा ईश्वर का भाव प्रवाहित हो सके तथा इस भूतल पर अंकित हो सके। बिना उस क़लम की सहायता के वह भाव यहाँ तक नीचे नहीं उतर सकता। फिर, इसके साथ ही साथ जो दैवी प्रेम आपके हृदय में भरा है उसकी ज्योति संसार में चारों ओर फैलाते हुए आप लहकती हुई आग की ज्वाले की नाईं भी हैं।

वह ज्ञान, जिसके सहारे आप सहायता करने योग्य बनते हैं; वह इच्छा अर्थात् संकल्प, जिसके द्वारा ज्ञान सञ्चालित होता है; तथा वह प्रेम, जो संकल्प को प्रेरित करता है—ये ही तो आपके साधन हैं। इच्छा (सङ्कल्प), ज्ञान एवं प्रेम, ईश्वर के तीन स्वरूप हैं; और आप उनके सेवकों में अपना नाम दर्ज कराना चाहते हैं। इसलिये इन तीनों स्वरूपों अथवा सद्गुणों को आपको संसार के समक्ष अपने जीवन द्वारा प्रकट करना चाहिये।

———

साधक का भाव

गुरु-देव के वचन की ताक में इन्तज़ार,
गुप्त-ज्योति की ओर टकटकी लगाये;
झंझटों के प्रचण्ड कोलाहल के मध्य
उनकी आज्ञा की ओर कान अड़ाये;
लोगों की सघन भीड़ के ऊपर से
उनका हल्का-से-हल्का इशारा देखते;
दुनिया के अत्यन्त रोचक गीतों को छोड़
उनकी धीमी-से-धीमी आवाज़ सुनते।

———

[पुस्तिका के अन्त में कुछ अँग्रेज़ी के अत्यन्त सुन्दर तथा महत्त्व-पूर्ण पद दिये गये हैं। उन्हीं का यह अनुवाद है। साधक का भाव कैसा होना चाहिये, उसका सुन्दर-से-सुन्दर रूप उन पदों द्वारा विदित होता है। अतः इन भावों को कुछ स्पष्ट रूप से नीचे दिखलाने की कोशिश की जाती है।

प्रत्येक साधक को इन पदों पर अच्छी तरह मनन करना चाहिये। ऐसा करने से उसे अपने लिये आवश्यक भाव का, अपने यथेष्ट कर्त्तव्य का, उत्तम रूप उसकी आँखों के सामने शीघ्र झलकने लगेगा। साधना का महत्त्व, साधना की खूबी, साधना करने से ही यथेष्ट समय पर आप-से-आप विदित होने लगती है। उसका वर्णन चाहे कैसे ही विशद रूप में क्यों न किया जाय, उससे उसकी किञ्चित्-मात्र अनुभूति का मुक़ाबला कदापि नहीं हो सकता। अतः इस

क्षेत्र में दूसरे के वर्णन से कुछ विशेष लाभ नहीं हो सकता। परन्तु जब किसी व्यक्ति को कोई सुन्दर अथवा अच्छी वस्तु प्राप्त होती है, तो वह दूसरों के प्रति भी उस आनन्द को वितरण करने की कोशिश किये बिना रह नहीं सकता। इस नोट के यहाँ लिखने का एक-मात्र कारण यही है।

साधक के लिये किस वस्तु की सबसे अधिक आवश्यकता होती है ? उसका तो एक-मात्र लक्ष्य रहता है अपने गुरु-देव की सेवा करना, गुरु-देव की सेवा में अपने को पूर्ण रूप से समर्पित कर देना। इसलिये वह सदैव इस ताक में रहता है कि "देखें, गुरु-देव की मर्ज़ी क्या है ? गुरु-देव क्या चाहते हैं ?" उनके वचन सुनने के लिये तो वह तत्परता से कान ओड़े ही रहता है, उसके साथ-साथ वह इस ताक में भी रहता है कि "देखें, गुरु-देव का इशारा किस ओर है ?" जहाँ ज़रा उनका इशारा मिला कि उस कार्य की पूर्त्ति में वह तन-मन-धन, अर्थात् हर प्रकार से, लग जाता है। इसके लिये उसे कुछ ख़ास कोशिश नहीं करनी पड़ती। बल्कि ऐसा किये बिना वह कदापि रह ही नहीं सकता। क्योंकि वह तो अपने को हृदय से गुरु-देव की सेवा में समर्पित कर चुका रहता है। यही भाव ऊपर के पदों से प्रकट होता है।

गुरु-देव का वचन ग्रहण करने योग्य होने के लिये साधक का हृदय तथा मन पूर्ण रूप से शान्त होना आवश्यक है। शान्त मन तथा हृदय के साथ गुरु-देव की ओर लव लगाये रहने से ही तथा उनके वचन के पालन के निमित्त सभी प्रकार से तत्पर रहने पर ही उनके वचन सुने जा सकते हैं। गुरु-देव हृदय की गुफा के अन्दर बड़े ही धीमे स्वर से बोलते हैं। जो आदमी दुनिया के झंझटों के मध्य रहते हुए

भी, जल के मध्य रहने वाले पद्म-पत्र की नाईं, दुनियादारी से निर्लेप तथा निर्विकार बचा नहीं रहेगा, वह उनकी धीमी आवाज़ कदापि नहीं सुन सकेगा। ख़ुलासा यह कि साधक को अपना मन बाहरी दुनियादारी की ओर से खींच कर इस प्रकार हृदयस्थित गुरु-देव की ओर लगाना चाहिये कि बाहर उसके सिर पर नक़्क़ारा भले ही बजता रहे, पर वह उसे न सुन कर शान्त मन से हृदय की धीमी आवाज़ की ही ओर लव लगाये रहे। बाहर से हज़ार झंझटें उस पर आयें, पर उनसे किञ्चित-मात्र विचलित न होकर वह अपने लव में लीन बना रहे। तभी गुरु-देव के वचन सुनने की क्षमता प्राप्त की जा सकती है।

हाँ, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि गुरु-देव की सेवा का अर्थ है मानो संसार से विमुख होना अर्थात् संसार के लिये कुछ न करना। ऐसा सोचना भारी भूल करना है। साधक के लिये संसार से विमुख होना तो निश्चय ही आवश्यक है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि संसार का कुछ कार्य न किया जाय, अथवा संसार के कार्य से कुछ सरोकार न रखा जाय। संसार की सेवा करना तो उसका प्रधान कर्त्तव्य है। इसलिये संसार से विमुख होने का असली तात्पर्य यह है कि संसार में रहते हुए तथा संसार के लिये सेवा-कार्य करते हुए भी संसार में लिप्त न हुआ जाय। देखिये, गुरु-देव तो जीवन्मुक्त होकर भी संसार की सेवा के ही निमित्त संसार के साथ अपना सम्बन्ध जोड़े रहते हैं। इसलिये साधक को भी उसी सेवा का पाठ पढ़ना आवश्यक है। पर, गुरु-देव की इच्छा के अनुकूल, गुरु-देव की रीति से वह सेवा तभी हो सकेगी जब हम संसार में रहते हुए, संसार की सेवा करते हुए भी, संसार से बे-लाग अलग रहेंगे।

अस्तु, इस कार्य में कौन-कौन-सी बाधाएँ साधक के सामने उपस्थित होती हैं? उपरोक्त पदों से तीन ऐसी बाधाओं का पता चलता है:—(१) निजी दैनिक जीवन की झंझट, (२) लोक-मत और (३) सांसारिक सुखों का प्रलोभन।

ग़ौर करने से स्पष्ट रूप से पता चलेगा कि साधक के लिये ये ही तीन प्रकार की मुख्य बाधाएँ हैं, जिनका मुक़ाबला करना उसके लिये आवश्यक है। पहला, जीवन-निर्वाह की झंझट, घर-परिवार की झंझट। अधिकांश मनुष्यों के लिये तो ये झंझटें ऐसी हैं कि इनसे उन्हें बिल्कुल छुटकारा ही नहीं। परन्तु, साधक के लिये तो इनका कुछ महत्त्व ही नहीं होना चाहिये। बल्कि, दैनिक जीवन कैसा ही कठिन क्यों न हो, उससे तनिक भी विचलित न हो कर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने में ही बे-फ़िक्र होकर लगे रहना है।

फिर, जो आदमी अपनी व्यक्तिगत समस्याओं को हल करके आगे बढ़ना चाहता है, उसके सामने दूसरी बाधा लोक-मत की वजह से पहुँचती है। जिस लक्ष्य की ओर वह जाना चाहता है उसकी आवश्यकताएँ दुनियादारी की आवश्यकताओं से बिल्कुल भिन्न प्रकार की होती हैं। इसलिये, लोक-मत इस पथ के पथिक के सामने भारी बाधा उपस्थित करता है। परन्तु साधक को तो लोक-मत अथवा लोक-लाज को पार करना ही पड़ता है। अन्यथा वह रास्ते में ही फँस कर रह जायगा।

अस्तु, जब आध्यात्मिक जीवन की ओर हृदय से साधक बढ़ने लगता है, तो संसार द्वारा भाँति-भाँति के प्रलोभन उसके सामने उपस्थित होने लगते हैं। लोक-लाज आदि का मुक़ाबला करने योग्य होने में उसकी निजी शक्ति काफ़ी बढ़

जाती है। फिर तो वह शक्ति के फेर में पड़ कर कई प्रकार से अपने लक्ष्य से विमुख हो जा सकता है।

अतः साधक के लिये यह परमावश्यक है कि वह अपने को इन तीनों प्रकार की बाधाओं से बचा कर निर्द्वन्द तथा शान्त एवं निश्चल भाव से अपने लक्ष्य की ओर लव लगाये रहे। तभी तो वह गुरु-देव की धीमी आवाज़ सुन सकेगा और उनके वचन का पालन कर जीवन सार्थक बना सकेगा। यह विषय बड़े विस्तार का है। पर विस्तार से विशेष लाभ नहीं। अतः यहीं समाप्त किया जाता है। पाठक-गण स्वतः मनन तथा अभ्यास द्वारा साधना का सच्चा भाव हृदय में बैठायेंगे।—अनुवादक।]

———

१. बाल-विकास-माला

इस माला में अत्यन्त सरल भाषा में ऐसी पुस्तिकाएँ प्रकाशित की जाती हैं, जिनके पढ़ने से, मनोरंजन के साथ-साथ हमारे देश के बच्चे तथा बच्चियों के हृदय में सद्भावनाएँ, सदभिलाषाएँ तथा भारतीय संस्कृति के सच्चे भाव जगाये जा सकें।

इस माला के १२ अंकों का एक सेट होता है जिसमें एक विशेषांक के साथ १० साधारण अंक रहते हैं। प्रत्येक सेट में एक-एक विशेष आवश्यक एवं उपयोगी विषय के विभिन्न अंगों का समावेश रहता है। अंक सभी स्थायी मूल्य के होते हैं।

प्रत्येक साधारण अंक का मूल्य छः आना तथा विशेषांक का १) होता है, डाक-व्यय अलग। किन्तु जो लोग इस माला के स्थायी ग्राहक बन जाते हैं, उन्हें केवल ४) पेशगी में ही डाक-व्यय सहित पूरा सेट दिया जाता है।

२. राष्ट्र-विकास-माला

इस माला के विभिन्न अंकों द्वारा यह प्रदर्शित किया जाता है कि जीवन के विभिन्न अंगों तथा कार्य-क्षेत्रों में भारतवर्ष के क्या-क्या मानदण्ड रहते आये हैं। अर्थात्, वास्तविक भारतीयता से क्या अभिप्राय है और कैसे हम सुयोग्य नागरिक बनकर भारत-माता तथा संसार का यथेष्ट कल्याण कर सकते हैं।

३. जीवन-विकास-माला

इस माला द्वारा जीवन के विभिन्न गहन एवं आवश्यक सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जाता है, ताकि हम अपने को जान सकें, अपना समुचित सुधार एवं उन्नति कर सकें, तथा अपनी गुप्त शक्तियों का विकास एवं सदुपयोग कर हम अपना जीवन सफल बनाने में समर्थ हो सकें।

———

१. बाल-विकास-माला

पहला सेट—आदर्श जीवन के उदाहरण

१.	रामजी और भरतजी	।=)
२.	कृष्णजी और सुदामाजी	।=)
३.	गौतमजी—हंस किसका ?	।=)
४.	श्री रामजी और केवट	।=)
५.	सीताजी और वनवास	।=)
६.	राजा हरिश्चन्द्रजी	।=)
७.	भक्त प्रह्लादजी	।=)
८.	बाल-कृष्ण की लीलाएँ	।=)
९.	अचल ध्रुवजी	।=)
१०.	बुद्ध भगवान् और चन्ना	।=)
११. १२.	कृष्णजी की प्रेम-लीलाएँ (पहला विशेषांक)	१)

दूसरा सेट—प्रमुख विचार प्रवर्त्तकों की जीवनी

१३.	महर्षि वेद-व्यासजी	।=)
१४.	श्री गौतम-बुद्धजी	।=)
१५.	श्री वर्द्धमान महावीरजी	।=)
१६.	प्रभु यीशू मसीह	।=)
१७.	श्रीगुरु नानक-देवजी	।=)
१८.	हज़रत मुहम्मद साहब	।=)
१९.	श्री महात्मा ज़रथुस्त्रजी	।=)
२०.	श्री जगद्गुरु शंकराचार्य	।=)
२१.	श्री स्वामी रामानुजाचार्य	।=)
२२.	श्रीकृष्णचन्द्रजी	।=)
२३. २४.	सर्व-धर्म-समन्वय (दूसरा विशेषांक)	१)

व्यवस्थापक, नारायण-प्रकाशन-मन्दिर,
थियोसॉफिकल सोसायटी, बनारस—१ ।